चतुर्थ अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम उपन्यासकारों के उपन्यासों में मुस्लिम समाज के प्रश्न

भारत में आजादी के बाद हिंदी साहित्य में मुस्लिम समाज की समस्याओं का चित्रण व्यापक रूप से दिखाई देता है। इस समय के रचनाकारों ने विभाजन की त्रासदी के दंश को ना सिर्फ झेला वरन् अपने साहित्य में उजागर भी किया। यशपाल द्वारा लिखा गया उपन्यास 'झूठा सच' एक महत्वपूर्ण रचना है। यशपाल ने इस उपन्यास में बहुत बारीकी से विभाजन की त्रासदी के महत्वपूर्ण बिंदुओं को उजागर किया है। साम्प्रदायिकता, विस्थापन, पुनर्वास, तथा धार्मिक उन्माद के प्रकाश में इस उपन्यास की रचना की गयी है। इस क्रम में राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' में विभाजन और उसके बाद की परिस्थितियों को ग्रामीण परिवेश में समझने की कोशिश की गयी है। विभाजन की त्रासदी का दंश झेलने के बाद भारतीय मुसलमान लगातार हाशियाकृत होते चले गये। उनमें अलगावबोध और असुरक्षा की भावना लगातार बढ़ती चली गयी। भारत विभाजन का दंश सिर्फ भारतीय मुसलमानों ने नहीं झेला वरन् कई हाशियें की अस्मिताएं इसका शिकार हुई। उनका जीवन सामान्य होने में सदियाँ बीत गयी।

आजादी के बाद के साहित्य में हाशिए की अस्मिताएं लगातार सक्रिय दिखाई देती हैं। भारतीय समाज में बढ़ने वाली असुरक्षा, साम्प्रदायिकता, अलगावबोध तथा विभाजित संवेदना ने सिर्फ मुसलमानों को ही नहीं वरन् समाज के हर तबके को गहरे रूप में प्रभावित किया। इसी के परिणामस्वरूप साहित्य में बदलती संवेदना के बीच हशियाकृत समूहों में अभिव्यक्ति कई स्तरों पर परिलक्षित होती है। इसीलिए आजादी के बाद के साहित्य में समानुभूति का साहित्य प्राप्त होता है। जहाँ स्वयं हाशिए के समाज अपने जीवन की दुरूहताओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करते दिखाई देते हैं। साठोत्तरी दौर में ऐसे बहुत से रचनाकार हैं जो अल्पसंख्यक समुदाय से हैं तथा अपने समाज के यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति कर रहे हैं। इस क्रम में राही मासूम रज़ा, असग़र वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, इब्राहिम शरीफ़, मेहरुन्निसा परवेज़, बदीउज़्ज़माँ आदि का नाम लिया जा सकता है। गुलशेर खां शानी भी इन्हीं में से एक हैं। शानी के कथा साहित्य में

आजादी के बाद समाज में आधुनिकता के नाम पर आने वाले बदलावों की सनद है। जहाँ एक तरफ हमारे जीवन पर प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव कम होता चला गया वहीं दूसरी तरफ आधुनिकता के नाम पर विसंगतिपूर्ण जीवन शैली अपनाई जाने लगी। खोखली आधुनिकता का शिकार आधुनिक पीढ़ी की बदलती हुई मानसिकता का चित्रण इनके यहाँ देखने को मिलता है। शानी की कहानियों तथा उपन्यासों का विषय-वस्तु निम्नवर्गीय भारतीय मुस्लिम परिवारों के जीवन से संबंधित है। वे न केवल मुस्लिम परिवारों वरन् संपूर्ण भारतीय निम्नवर्ग के सामाजिक यथार्थ को सामने लेकर आते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो स्वातंत्रयोत्तर हिंदी साहित्य में अल्पसंख्यक समूहों ने एक अपनी दृष्टि विकसित की, जिसके द्वारा भारतीय समाज में अपनी स्थिति का निर्धारण कर पाए।

4.1. साम्प्रदायिकता और अलगाववाद की समस्या

पश्चिमी सभ्यता में साम्प्रदायिकता का अर्थ है समुदाय आधारित कार्रवाही लेकिन भारतीय संदर्भ में इसका अर्थ बदल जाता है। इसको दो समुदायों तथा खासतौर पर धार्मिक समुदायों के बीच टकराव की स्थिति जो हिंसा का रूप भी ले सकती है। इस संदर्भ में अभय दूबे लिखते हैं कि "साम्प्रदायिकता के बारे में एक प्रचलित समझ यह है कि इसका जन्म अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की कुटिल नीति के कारण हुआ था। 1857 के विद्रोह से पहले देश में कम से कम नौ दस जगहों पर हिंदुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। लेकिन विद्रोह के दौरान तीन वर्षों में हिंदुओं और मुसलमानों ने जबरदस्त एकता का प्रदर्शन करके उपनिवेशवाद को हिला दिया।"[1] यही कारण था कि साम्राज्यवादी शक्ति ने भारतीय परिवेश में रहने वाले विभिन्न जातियों तथा धर्मों के लोगों को सदैव एक-दूसरे से अलगा कर रखा। जिसके परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग तथा हिंदू महासभा जैसे संगठनों के उदय के रूप में देखा जा सकता है।

भारत में साम्प्रदायिकता की विचारधारा आजादी के समय तक विराट रूप धारण कर चुकी थी। हिंदी साहित्य में इस समय तक कोई प्रमुख मुस्लिम लेखक नहीं दिखाई देता है। निःसंदेह रूप से इस समय में ऐसे कई रचनाकार थे जो विभाजन की त्रासदी और साम्प्रदायिकता; उपन्यासों और कहानियों में उजागर करते है। 'इंसान मर गया', 'सत्ती मैया का चौरा', 'झूठा-सच', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'जुलूस' तथा 'तमस' इसी प्रकार के उपन्यास हैं। यहाँ कहानी का आधार विभाजन की त्रासदी और साम्प्रदायिकता है। इन उपन्यासों में अधिकांश रचनाकार गैर मुस्लिम हैं और विभाजन के दर्द को स्वयं के जीवन में भोग चुके हैं। इसी भोगे हुए यथार्थ को अपने साहित्य में दिखाने की कोशिश कर रहे हैं। विभाजन और उसके बाद घटित होने वाली घटनाएँ इन उपन्यासों की विषय वस्तु बन जाती है। फणीश्वरनाथ रेणू का उपन्यास 'जूलूस' मुख्य रूप से पूर्वी पाकिस्तान अथार्त बांग्लादेश पर आधारित है। इसमें बिहार के पूर्णिया जिले के गोडियर नामक स्थान पर आये हुए बांग्लादेशी शरणार्थियों की समस्या का चित्रण है। इस उपन्यास में आजादी के तुरंत बाद के ग्रामीण भारत में हो रही गतिविधियों को चित्रित किया गया है। इसका क्षेत्र उत्तरी बिहार का कोशी क्षेत्र है। इस संदर्भ में कमलेश्वर कृत 'कितने पाकिस्तान' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास को भारत पाकिस्तान के बँटवारे तथा हिंदू-मुस्लिम संबंधों को आधार बनाकर लिखा गया है। यहाँ उनके भीतर चल रहे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अंतर्विरोधों तथा मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व को व्यक्त किया गया है। इस उपन्यास में कथावस्तु और शिल्प की दृष्टि से कई नये प्रयोग किये गये हैं।

हिंदी उपन्यास के इतिहास मे राही मासूम रज़ा का पहला उपन्यास 'आधा गाँव' (1966) प्रकाशित होता है। यह उपन्यास उत्तर प्रदेश के जनपद गाजीपुर से लगभग ग्यारह किलोमीटर दूर बसे गाँव गंगौली के शिया मुसलमानों की कहानी का चित्रण है। राही मासूम रज़ा के दो अन्य उपन्यास 'टोपी शुक्ला' और 'ओस की बूंद' भी इस समय में प्रकाशित होती है। 'टोपी शुक्ला' का 1969 में प्रकाशन होता है। इस उपन्यास में हिन्दु-मुस्लिम भेद-भाव एवं अलीगढ़

विश्वविद्यालय की संकीर्ण राजनीति का चित्रण है। भारत-पाकिस्तान के विभाजन का ऐसा कुप्रभाव पड़ा कि अब हिन्दुओं और मुसलमानों का मिलकर रहना कठिन हो गया है। 'ओस की बूँद' (1970 ई०) कथा का केन्द्र गाजीपुर का एक छोटा सा क़स्बा है। इस उपन्यास में मुस्लिम लीग के द्वारा अलग देश की माँग करने पर मुसलमानों के मनःस्थिति का चित्रण है। इस तरह देखा जाए तो गैर मुस्लिम और मुस्लिम रचनाकारों ने आजादी के बाद जो उपन्यास रचा उसमें विभाजन की त्रासदी, विभाजन के बाद मुसलमानों में व्याप्त होने वाली असुरक्षा, अलगावबोध तथा मानसिक अंतर्द्वंद्व का चित्रण किया गया है।

साम्प्रदायिकता का वीभत्स रूप देश विभाजन के रूप में देखा जा सकता है। विभाजन केवल एक राजनीतिक कदम नहीं था वरन् इस त्रासदी की कहानियाँ भारतीय समाज की हिस्सा थी। अपनी जन्मभूमि से बिछड़ते लोग, अपनों से कभी न मिल पाने का दर्द लिए जीने को मजबूर विस्थापित जनता के जीवन की विडंबना को भुलाया नहीं जा सकता है। राजनीतिक रूप से समर्थन मिलने के बावजूद देश की जनता इसकी क़ीमत सदियों तक चुकाती रही। अलगाववाद की भावना का विकास इसी का अगला चरण था। यह इतनी बढ़ गयी कि भारतीय समाज की एक विशेषता के रूप में परिलक्षित होने लगी। प्रत्येक जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय अपने आप को एक-दूसरे से अलगा कर देखता है। एक लंबे समय तक विभाजन और अलगाव की समस्या को झेलने के बावजूद भारतीय समाज इसका विकल्प तलाश नहीं कर पाया। मनुष्यता खोकर जिस तरह से धर्म के आधार पर देश का विभाजन हुआ उसको न तो हिंदू भुला पाए और न ही मुसलमान।

साम्प्रदायिकता के मूल से जुड़े धर्म और जाति की जड़ें हमारे समाज में इतनी गहराई तक जा पहुँची हैं कि इसका विकल्प तलाशना एक कठिन कार्य है। भारतीय समाज में धर्म को अस्मिता का एक हिस्सा माना जाता है। जन्म के साथ हासिल होने वाले धार्मिक पहचान के तत्वों से हम मुक्त नहीं हो पाते हैं। धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप अन्य को सहन न कर पाने

की संवेदना का विकास होता है जिसे साम्प्रदायिकता की संज्ञा दी जाती है। भारतीय समाज विभिन्न अस्मिताओं में बंटा हुआ दिखाई देता है। मुस्लिम अस्मिता के भीतर अलगाव की प्रवृत्ति के प्रबल होने के परिणामस्वरूप देश विभाजन की प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। विभाजन के बाद भी भारतीय मुसलमान सामाजिक रूप से एक-दूसरे के प्रति सामान्य नहीं रह सके। समय-समय पर साम्प्रदायिक दंगों के रूप में इनके बीच की नफरत प्रदर्शित होती रही। आजादी के लंबे समय बाद भी साम्प्रदायिकता की जड़े कमजोर नहीं हो पायी। इसके लिए देश की सरकारों ने भी इसके निवारण के लिए किसी प्रकार का कदम नहीं उठाया। सरकारी तंत्र की तरफ से भी इस दिशा में अनदेखी की गयी जिसके कारण न सिर्फ हिंदू-मुस्लिम वरन् अन्य धर्मों के बीच आपसी सौहार्द में लगातार कमी आती गयी। इस संदर्भ में बिपिन चंद्रा ने लिखा है कि - "साम्प्रदायिकता अपने आप नहीं चली जाएगी, औद्योगिकरण और शिक्षा के प्रचार-प्रसार से सभी संभव कदम उठाने ही पड़ेंगे। लोकतंत्र की यह अनिवार्यता है। समाज की विचारधाराओं के जरिए साम्प्रदायिक बनाया जाता है। कोई थानेदार या तहसीलदार इसके लिए सरकारी आदेश लेकर नहीं आता। लोकतंत्र में संविधान की सहमति के बावजूद साम्प्रदायिक दलों और संगठनों पर प्रतिबंध लगाना आसान नहीं है क्योंकि वे ऐलानिया तौर पर अपने आप को साम्प्रदायिक नहीं कहते लेकिन अंदर से उनका आचरण वही होता है।"[2]

हिंदी साहित्य में आजादी के बाद के साहित्य में जिस प्रकार की संवेदना का विकास होता है वह रेखांकित करने योग्य है। समाज में विकसित धार्मिक असहिष्णुता, विभाजित मानसिकता तथा बिखरते विश्वासों के बीच मुस्लिम लेखकों ने अपने समाज के दर्द को साहित्यिक अभिव्यक्ति दी। अलगाव की समस्या ने भारत में बाकी रह गये अल्पसंख्यकों को कभी भी सहज रूप से नहीं रहने दिया। राही मासूम रज़ा ने अपने उपन्यास 'आधा गाँव' में यह स्पष्ट किया है कि गाँवों में रह रहे लोगों के बीच साम्प्रदायिकता तथा अलगाव की संवेदना इतने सक्रिय रूप में विद्यमान नहीं रहती लेकिन शहरी शिक्षित लोगों के बीच इस तरह की संवेदना का

विकास करते देखे जा सकते हैं। जो साम्प्रदायिकता भड़का कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। परिणामस्वरूप गंगौली के लोगों के बीच दूरियाँ बढ़ती चली जाती हैं। "इधर कुछ दिनों से गंगौली में गंगौली वालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शिओं और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। शायद इसीलिए नूरुद्दीन शहीद की समाधि पर अब उतना बड़ा मजमा नहीं लगता और गंगौली का वातावरण 'बोल मुहमदी-या हुसैन' की आवाज से उस तरह नहीं गूंजता जिस तरह कभी गूंज उठा करता था।"[3] अलीगढ़ से आये अब्बास जैसे पढ़े-लिखे लोग अलगाववादी विचारधारा से प्रेरित होकर गाँव के लोगों में उसका प्रचार प्रसार करते हैं। वे लोग नये मुल्क पाकिस्तान बनने की प्रक्रिया में सहयोग करने की बात करते हुए कहते हैं कि - "एक मरतवा पाकिस्तान बन गया तो मुसलमान ऐश करेंगे ...ऐश"[4] राही ऐसे लोगों को चिन्हित करते हैं जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं। ये लोग बाहर से आकर गाँव के लोगों में भ्रान्ति फैलाते हैं जो इन सब से अनजान है। ये लोग गाँव में यह प्रचार करते हैं कि हिंदुस्तान आजाद होने के बाद यहाँ के बहुसंख्यक, मुसलमानों के साथ भेद भाव करेगा। उनके साथ अछूत जैसा व्यवहार करेगा - "पाकिस्तान न बना तो ये आठ करोड़ मुसलमान यहाँ अछूत बनाकर रखे जायंगे"[5] गाँव का कम्मो यह समझ नहीं पाता है कि जो अछूत नहीं है उसे अछूत कैसे बनाया जा सकता है। ये हिन्दू भाई जो हमेशा से साथ में रहा है वह अचानक हमारे साथ ऐसा कैसे कर सकते हैं। कम्मो इस बात को समझता है कि ये बाहरी लीगी गाँव के आपसी भाईचारे में सेंध लगाने की कोशिश कर रहा है इसीलिए वह किसी क़ीमत पर उन लोगों की बात को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता है। कम्मो की बातें सुनकर अलीगढ़ से आये लड़के बिगड़ जाते हैं और तुनक कर कहता है कि हिंदुस्तान के आजाद हो जाने के बाद यहाँ के सभी हिन्दू आपके दुश्मन हो जायेंगे। गाँव का अल्पबुद्धि कम्मों भले ही बहुत कुछ नहीं जानता हो परन्तु इतना ज़रूर समझता है कि जो हिन्दू हमेशा से गाँव के मुसलमानों के साथ भाई-चारे का संबध अटूट किये हुए हैं वो अचानक से हमसे गद्दारी नहीं कर सकते। कम्मो कहता है कि "हिंदुस्तान के आजाद होवे के बाद इ गयवा अहीर, इ

छिकुरिया या लखना चमार या इ हरिया बढ़ई हमरे दुश्मन काहे को हो जइहें, यानी बिला वजहे? हुआँ इहे सब पढ़ते हैं आप लोग का?"[6] लड़कों ने कम्मो को समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन जब नहीं समझा तो गुस्सा में आकर कहने लगा कि ठीक है,"जब हिन्दू आपकी माँ-बहन को निकाल ले जायँ तो फ़र्याद न कीजियेगा।"[7] कम्मो जानता है कि गाँव के हिन्दू मुसलमानों का दुश्मन नहीं है। वह कभी भी मुसलमानों के साथ अहित नहीं करेगा। राही यहाँ दिखाते हैं कि गाँव के लोग आपस में कितना सौहार्द पूर्ण तरीके से जीवन यापन करते हैं। उनमें कोई भेद-भाव नहीं, कोई धार्मिक मतभेद नहीं। सभी एक-दूसरे के पर्व त्यौहार में भाग लेते हैं। सभी महिलाएँ मन्नतें मानती हैं। गाँव की मुसलमान औरतों के साथ-साथ हिन्दू औरतें भी ताजिये के अन्दर से अपने बच्चों को निकालती हैं यह सोचकर कि बच्चों का भला हो। यदि किसी कारण कोई छुट जाती है तब ये हिन्दू औरतें परेशान हो जाती हैं उन्हें लगता है कि उनपर कोई संकट आन पड़ेगा। एक साल ऐसा हुआ कि बेवा ब्राह्मणी की उलति बिना गिराए चल गया तो वह फुट-फुट कर रोने लगी और कहने लगी "हे इमाम साहिब! हमार लइकन के कछऊ हो गेलई न, त ठीक न होई!...चलो मीर साहिब! हमार उलतिया गिरवाये लेई!"[8] राही साम्प्रदायिकता के घोर निंदक थे वे इसे समाज के लिए कोढ़ मानते थे। उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में इसका विरोध किया। कबीर के बाद राही ऐसे थे जिन्हें हिन्दू और मुसलमान एक साथ गाली देते हैं। इसका कारण यह था कि राही सीधे संवाद में विश्वास रखते हैं उन्हें दो टुक कहने और सुनने की आदत है। वे जनसंघ और लीगियों को हमेशा खड़ी-खोटी सुनाया करते थे। वास्तव में ये संघ और लीगियों ने ही विभाजन के दौरान लोगों में साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म ही नहीं दिया बल्कि उसे उग्र भी बनाया। हम सभी जानते हैं कि साम्प्रदायिकता का मानवता से कोई सरोकार नहीं है। यह केवल धर्मों एवं मजहबों में दरार पैदा करता है जिसका लाभ नेता उठाते हैं। "राही ने हर तरह की साम्प्रदायिकता का विरोध किया, चाहे वह हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता हो, कश्मीर में मुस्लिम कट्टरपंथियों की

साम्प्रदायिकता हो, पंजाब में अकालियों की साम्प्रदायिकता हो। मुम्बई में रहकर भी बराबर बाल ठाकरे पर निशाना साधते रहे।"[9]

राही जी इस बात को हमेशा समझाने की कोशिश करते थे कि यह हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का खेल बहुत पुराना नहीं हैं। यह वर्तमान समय का खेल है जो राजनीतिक पार्टियों एवं विशेष वर्गों द्वारा कुशलता से खेला जाता है। इस खेल में आम लोग ही बलि के बकड़े बनाये जाते हैं। वे हमेशा ऐसे लोगों को कठघरे में खड़ा करते हैं जो इस खेल के रचयिता है। जो धर्म के आधार पर लोगों को बांटता है। ऐसे बुद्धिजीवियों को उन्होंने उपन्यास में रेखांकित किया है। गाँव के मास्टर छिकुरिया से कहते हैं कि "इन मलिच्छों ने तो भारतवर्ष को तहस-नहस कर दिया है। मंदिरों को तोड़-ताड़कर मस्जिदें बनवा ली हैं इन पापियों ने।"[10] मास्टर जी की यह बात गाँव का छिकुरिया नहीं मानता है क्यूँकी वह गाँव में कभी किसी मंदिर को तोड़ते हुए किसी मुसलमान को नहीं देखा था। बरअक्स गाँव के मुसलमान मंदिर बनवाने के लिए ज़मीन भी दिया था और मियाँ लोग दसहरे का चंदा भी देते हैं।

गाँव में साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में जहाँ एक तरफ बाहर से आये लीगी प्रचारकों को राही ने दिखाया है वहीं संघियों और उसके प्रचारकों को भी। स्वामी जी के माध्यम से राही ने ऐसे तत्वों को भी सामने लाने का प्रयास किया है जो विभाजन के दौरान हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव प्रेषित करता है। उनके मन-मष्तिष्क में मुसलमानों के प्रति जहर भर देता है। उपन्यास में स्वामी जी कथा सुनाते हुए हिन्दुओं को कहता है कि "तब भगवान् श्री कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! हूँ तो मैं हूँ और मेरे सिवाय कोई और नहीं है। आज वह मुरली मनोहर भारत के हर हिन्दू को पुकार रहा है कि उठो और गंगा और यमुना के पवित्र तट से इन मलेच्छ मुसलमानन को हटा दो"[11] इस तरह के सभा में सिर्फ हिन्दुओं को मुसलमानों के प्रति भड़काया ही जाता था। उन्हें उग्र बनाने का काम किया जाता है। उनके दिमाग में घोर हिंदुत्व का कीड़ा छोड़ देते हैं जिसके परिणाम स्वरूप साम्प्रदायिकता और तेजी से गाँव में बढ़ती है। वे उन दिनों देश के

अलग-अलग भागों में हुए दंगों का जिक्र करके उन्हें भी बदला लेने के लिए तैयार करते हैं। वे लोगों से कहते हैं कि- "धर्म संकट में है। गंगाजली उठाकर प्रतिज्ञा करो कि भारत की पवित्र भूमि को मुसलमानों के खून से धोना है...स्वामी जी जोश में आ चुके थे, देखो कलकत्ता और लाहौर और नवाखाली में इन मलेच्छ तुर्कों ने हमारी माताओं का कैसा अपमान किया है. बोलो बजरंगबली की"[12]

राही बेहद संवेदनशील इन्सान थे। उन्हें दंगे फसाद बिल्कुल पसंद नहीं था। वे आपसी भाईचारे में विश्वास रखने वाले थे। वे इन मजहबी दंगों की जड़ में जाकर उन तत्वों को लगातार चिन्हित करते हैं और उपन्यास में उन्हें ही एक्सपोस करते हैं। वे अपने लगभग सभी उपन्यासों में एक ही बात को जोर देकर कहते हैं और वो है हिन्दू-मुस्लिम भाईचारा। वे भारत के सामंती समाज में आदमी को आदमी के रूप में देखना चाहते थे न कि हिन्दू अथवा मुसलमान के रूप में। उनके अनुसार भारत में रह रहे सभी लोग हिन्दू हैं। हिन्दू कोई धर्म नहीं बल्कि वह संस्कृति है। और इसी संस्कृति को तोड़ने वाले राजनीतिक सम्प्रदायवादियों के विरुद्ध उन्होंने हमेशा कलम चलायी। शिव कुमार मिश्र राही जी के विषय में सच ही लिखते हैं कि "सच कहा जाए तो राही ने आजीवन सिर्फ एक ही किताब लिखी। एक ही दास्तान और एक ही आख्यान रंग, रूप और तेवर बदलकर उनकी किताबों में आया है। और वह है भारत की बुनियादी बहुलतावादी पहचान को मिटा देने पर आमदा, धर्म और मजहब के आधार पर आदमी और आदमी के बीच फर्क डालने को तत्पर हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की घिनौनी चालों और करतूतों के खिलाफ, धर्म और राजनीति का घालमेल करने वाली कुत्सित सोच के खिलाफ एक देशभक्त इंसान और एक ईमानदार रचनाकार के रूप में उनके द्वारा छेड़ी गई लड़ाई का आख्यान"[13]

उपन्यास में पाकिस्तान विमर्श साम्प्रदायिकता के मूल में चित्रित किया गया है। राही निष्पक्ष भाव से इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारत का विभाजन राजनीतिक लाभ हेतु वर्ग विशेष द्वारा किया गया कुलीन कार्य था। धर्म के आधार पर द्विराष्ट्र के सिद्धांत को जिन्ना और

उसके गैंग ने तो साकार कर लिया परन्तु वे इस फरेब को ज्यादा दिन तक लोगों से छिपा न सका। इसी क्रम में बांग्लादेश का विभाजन इस सिद्धांत को झूठा साबित कर देता है। मुस्लिम लीगियों और मुस्लिम बुद्धिजीवियों का यह दावा कि संसार के सभी इस्लाम के मानने वाले एक हैं और उसमें एकता और समरसता है। राही ने अपने उपन्यासों में इस मिथक को गलत साबित किया है। वीरेंद्र यादव लीगियों की इस घटिया मानसिकता पर से पर्दा उठाते हुए सटीक टिप्पणी करते हैं कि- "सच तो यह है कि मुस्लिम अभिजन ने पाकिस्तान की मांग के द्वारा अपने वर्गीय हित साधन के लिए समूचे मुस्लिम समुदाय का इस्तेमाल व् धार्मिक भयादोहन किया था। राही जहाँ अपने उपन्यास में मुस्लिम समुदाय की समरसता व भाईचारे के मिथक का भेदन करते हैं, वहीं अशराफ और सैयद वर्ग की नस्ली श्रेष्ठता व इस्लामी पवित्रता के छद्म को भी उघाड़ते हैं।"[14]

राही 'आधा गाँव' में दिखाते हैं कि मुस्लिम लीगी काली शेरवानी वाले गंगौली में आकर मुसलमानों को पाकिस्तान के झूठे जन्नत दिखाकर उन्हें वर्गलाने की कोशिश करते हैं। उन्हें हिन्दुओं के प्रति आक्रोशित करके मुस्लिम समाज के उत्थान की बात करता है। और यह तभी संभव हो सकता है जब पाकिस्तान का निर्माण होगा। ये लोगों से कहते हैं कि हमें अपने नमाज के बचाव के लिए पाकिस्तान की ज़रूरत है। गाँव के लोग इस बात को मानने से इंकार कर देता है कि नमाज के लिए किसी पाकिस्तान की ज़रूरत है। दरअसल पाकिस्तान की ज़रूरत नमाज के लिए न होकर ऐसे वर्ग विशेषों के लिए थी जो अपना अलग हुकूमत स्थापित करना चाहते थे। सच्चे मुसलमानों के लिए नमाज अदा के लिए भारत से अच्छी कोई जगह हो ही नहीं सकती। भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है जिसके रगों में ऋषि मुनियों का रक्त प्रवाहित है जो मानवता को हमेशा श्रेष्ठतम दर्जा देता है। भारत भूमि हमेशा से पाक रहा है इसके लिए किसी अलग पाकिस्तान की ज़रूरत नहीं है। नमाज के लिए सिर्फ ईमान की आवश्यकता होती है जो भारत के मुसलमानों में व्याप्त है। इसलिए हाजी साहब ने जवाब दिया था कि "हम तो अनपढ़ गँवार हैं। बाकी हमरे ख्याल में निमाज़ खातिर पाकिस्तान-आकिस्तान की तनिको ज़रूरत ना है।

निमाज़ के वास्ते खाली ईमान की ज़रूरत है। खुदा बंद ताला साफ़-साफ़ फार्म दिहिस है कि ऐ मेरे पैगम्बर कह द ई लोग से, कि हम इमानवालन के साथ हैं। अउरी कानी कउन त कहता रहा कि जउन जिन्ना हैं ऊ निमाज़ों ना पढ़ते।"[15] काली शेरवानी वाले अलगाववादी विचारधारा से इतने लैश होते हैं कि वह हर तरह से भारतीय मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति द्वेष की भावना भरना चाहते हैं। कहते हैं कि आप लोग तो जानते ही हैं कि पूरे देश में मुसलमानों की जिन्दगी और मौत की लड़ाई छिड़ी हुई है और हमारी जनसंख्या यहाँ के हिन्दुओं के मुकाबले बहुत कम है, ऐसे में हमें पाकिस्तान के पक्ष में वोट करना चाहिए। अलगाववादी शक्तियाँ उस दौरान पूरे देश में फैला हुआ था जो अपने-अपने लोगों के बीच तक़रीर पर तक़रीर दे रहे थे। अलगाववादी विचारधारा के लीगियों की एक तक़रीर सुनिए "हम ऐसे मुल्क में रहते हैं जिसमें हमारी हैसियत दाल में नमक से ज्यादा नहीं है। एक बार अंग्रेजों का साया हटा तो ये हिन्दू हमें खा जायेंगे। इसीलिए हिन्दुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी जगह की ज़रूरत है जहाँ वह इज्जत से जी सकें।"[16] इन तकरीरों में इतनी धार्मिकता और साम्प्रदायिकता होती थी कि आम आदमी आसानी से अपना आपा खोकर साम्प्रदायिक हो जाते थे। गाँव के सीधे-साधे लोग लीगियों के बहकावे में आसानी से नहीं आते हैं परन्तु जब धर्म को हथियार बनाकर इस्तेमाल किया जाता है तब आम लोग इसके चपेट में आ जाता है। राही जी अपने उपन्यासों में यही दिखाने की कोशिश करते हैं कि धर्म साम्प्रदायिक नहीं होता है परन्तु धर्म का इस्तेमाल साम्प्रदायिकता को जन्म देने में किया जाता है। इसलिए लीगियों के बहुत जोशीले तकरीर के बाद "नतीजे में राकियों और जुलाहों के एक बड़े हिस्से ने यह तय किया कि वोट लीग ही को देना चाहिए। यह एक मज़हबी फ़र्ज़ है।"[17]

राही जी का पूरा जीवन साम्प्रदायिकता से लड़ने में बिता इसमें कोई दो राय नहीं। इसलिए उनके सम्पूर्ण उपन्यास में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली शक्तियों की छानबीन करते हुए वे नज़र आते हैं। 'आधा गाँव' में दिखाते हैं कि स्वामी जी की कथा सुनने के बाद वहाँ के हिन्दू,

मुसलमानों पर हमला कर देता है। लेकिन राही इस साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए ठाकुर के माध्यम से इस साम्प्रदायिकता को रोकते हैं और हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसाल कायम करते हैं। ठाकूर के इस साम्प्रदायिक सौहार्द को देखकर हमलावर हिन्दुओं को समझ नहीं आता कि ठाकुर इनको क्यूँ बचा रहा है जबकि उनलोगों को कहा गया था कि ठाकुर ने ही इन मुसलमानों को मारने के लिए बंदोवस्त किया हुआ है। लेकिन वास्तविकता यह होती है कि हिन्दू अलगाववादियों की यह चाल होती है जिसका भंडा फोर स्वयं ठाकुर करता है। "तोहनी के हमसे ढेर मालूम बाय? खैरियत एही में बाय की चल जा लोग! का नवाखाली माँ हई, बफतिया अउरी हई, दिलदरवा अउरी हई, कल्लुआ हिन्दू इस्त्रियन के ख़राब किहले बाये! बड़ बहादुर हव्वा लोग अउर हिन्दू मरियादा के ढेर ख्याल बाये तुहरे लोगन के, त कलकत्ते-लाहौर जाये के चाही। हियाँ का धरल बाये, की चढ़ आइल बाड़ा तूं लोग?"[18]

राही के अनुसार गाँव के सीधे-साधे लोग हमेशा से साथ में रहने, उठने-बैठने में विश्वास करते हैं उनके अन्दर साम्प्रदायिकता की भावना नहीं होती है। परन्तु स्वामियों और मुल्लाओं जैसे कट्टर धार्मिक लोगों की वजह से पूरे गाँव में साम्प्रदायिकता की आग सुलगती है। गाँव के साधारण किसानों को "यह बात समझ में नहीं आई कि अगर गुनाह कलकत्ता के मुसलमानों ने किया है तो बारिखपुर के बफाती, अलावलपुर के घुरऊ, हुँडरही के घसीटा को, यानी अपने मुसलमानों को सजा क्यों दी जाय? जिन मुसलमान बच्चियों ने छुटपन में उनकी गोद में पेशाब किया है, उनके साथ जिना क्यों और कैसे की जाय? उनकी समझ में यह भी नहीं आ रहा था कि जिन मुसलमानों के साथ वह सदियों से रहते चले आ रहे हैं, उनके मकानों में आग क्यों और कैसे लगा दी जाय? उन मुल्लाजी को कोई कैसे मारे जो नमाज़ पढ़कर मस्जिद से निकलते हैं तो हिन्दू-मुसलमान सभी बच्चों को फूंकते हैं? किसानों की समझ में यह आता था कि झगड़े की जमीन की फसल काट ली जाय। जमीन के मामले में एकाध क़त्ल-खून हो जाय तो कोई बात नहीं। लेकिन यूँ ही सिर्फ इस जुर्म पर किसी को क़त्ल कर देना या किसी का घर जला देना कि कोई

मुसलमान है, उनकी समझ में नहीं आ रहा था।"[19] राही सही मायनों में साम्प्रदायिकता की जड़ को पकड़ने में कामयाब होते हैं। और साम्प्रदायिक शक्तियों को जवाब देने में सक्षम होते हैं।

बदीउज़्ज़माँ के 'छाको की वापसी' उपन्यास में भी भारत विभाजन और साम्प्रदायिकता की क्रूरता को दिखाया गया है। इस उपन्यास में लेखक ने स्वतंत्रता पूर्व भारत और बांग्लादेश के निर्माण तक के भारत का अंकन किया है। साम्प्रदायिकता के भयावह परिणाम को बेहद संजीदगी और संवेदनशीलता के साथ लेखक ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। साम्प्रदायिकता हमेशा से गरीब लोगों के लिए बहुत बड़ी समस्या रही है। भारत विभाजन के दौरान जो मुसलमान भारत में रहना चाह रहे थे उन्हें बहुसंख्यकों द्वारा प्रताड़ित होना पड़ता था। उन्हें पाकिस्तान भागने हेतु मजबूर किया जाता था। परिणाम स्वररूप दंगे और आगजनी का मंजर हमेशा देखने को मिलता था। उपन्यास में इन दंगों का शिकार कई दफा महमदू खलीफा और उनके जैसे कई लोग होते थे। एक बार जब दंगा शुरू हुआ तब महमदू उस दंगे में फंस गया और उसके साथ जो हुआ वह बेहद मर्मस्पर्शी था। "महमदू खलीफा ने भी घबराहट में जल्दी-जल्दी दुकान बंद की और बाहर आ गया। दुकान से दो चार कदम ही आगे गया होगा कि किसी ने लाठी उसके सिर पर दे मारी। महम्दू खलीफा लड़खड़ा कर गिर पड़ा और बहुत देर तक वह बेहोश पड़ा रहा था। फिर पुलिस वाले उसे अस्पताल में पहुँचा आये थे। महम्दू खलीफा से बहुत से लोगों ने कहा था कि वह अपनी दुकान वहाँ से हटा ले। लेकिन वह राजी नहीं हुआ था। उसने जवाब दिया था अल्लाह मारे है, वही जिलावे है। दुकान काहे छोरबई?"[20] बदीउज़्ज़माँ यहाँ महमदू के माध्यम से उन तमाम मुसलमानों की पीड़ा को व्यक्त करते हैं जो विभाजन के बाद भारत में ही रहना पसंद किया था। लाख दबाव के बावजूद भी वह अपना वतन नहीं छोड़ना चाहते थे। जिस प्रकार महमदू अपनी दुकान नहीं छोड़ता है।

विभाजन के दौरान दंगे होना आम बात हो गयी थी। जब दिलों में नफरत के गुब्बार भरे रहते हैं तो वो किसी समय भी फट सकता है। "बहुत छोटी बात को लेकर शहर में दंगा हो गया

था और इतने सारे बेकसूर लोग मारे गए थे या घायल हुए थे। दो गुंडों में झगड़ा हो गया था। एक हिन्दू था और दूसरा मुसलमान। इस झगड़े ने ही हिंदू-मुस्लिम दंगे का रूप ले लिया था।"[21] साम्प्रदायिकता के परिणामस्वरूप दंगा होता है, दंगा के कारण भुखमरी। दंगे-फसाद तो एक दिन होते हैं परन्तु उसका असर लम्बे समय तक रहता है। खासकर उन लोगों के लिए जो दिन दिहारी वाले तबके होते हैं। मजे की बात तो ये है कि इन दंगों में ऐसे लोग ही अधिक होते हैं। क्योंकि ऐसे लोगों का ही इस्तेमाल किया जाता है। "दंगा तो एक रोज हुआ था। लेकिन उसका असर बहुत दिनों तक बाकी रहा था। किसी खौफनाक और जानलेवा बीमारी की तरह इसकी दहशत लम्बे अरसे तक महसूस की जाती रही थी। महम्दु खलिफा की दुकान कई दिनों तक बंद पड़ी रही थी। मोहल्ले के बहुत सारे लोग कई रोज़ तक बिना काम-धंधे के घर में बैठे रहे थे। इन लोगों का गुजारा तो रोज की कमाई के सहारे चला करता था। एक दिन भी काम-धंधा न मिले तो भूखों मरने की नौबत आ जाती है।"[22]

साम्प्रदायिकता की समस्या को तरजीह देते हुए लेखक बदीउज़्ज़माँ वली अहमद उर्फ़ गांधी भाई और हबीब के बीच वाद-विवाद का संयोजन करते हैं। हबीब मुस्लिम लीग के प्रतिनिधित्व के रूप में चित्रित किया गया है जिसकी विचारधारा साम्प्रदायिक और अलगाववादी है। वह मजहब के आधार पर देश को बाँटना चाहता है। उसका मानना है कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग कौम है इसी वजह से उनके बीच किसी भी प्रकार के संबंध नहीं रखे जा सकते हैं। वह अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहता है कि "हिन्दू कभी मुसलमानों के साथ घुल मिल नहीं सकता। हिंदुस्तान की सैकड़ों साल की तारीख गवाह है कि हिन्दू और मुसलमान कभी एक नहीं हो सकते। मज़हब, कल्चर, लिबास, ज़बान-कोई नुक्ता नहीं जहाँ दोनों एक-दूसरे से मिले हो।"[23] गाँधी भाई लिबरल विचारधारा के व्यक्ति है वह साम्प्रदायिकता और अलगाववादी का घोर विरोध करता है। वह मुस्लिम होते हुए भी धार्मिक कटरता का समर्थन नहीं करता है। हबीब भाई के तर्कों को यह कहकर स्वीकार नहीं करता कि हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक

समस्या उतनी व्यापक नहीं है जितनी की मुसलमानों की आपसी समस्या। पूरी दुनिया में मुसलमानों की तादाद अधिक संख्या में है। और इनके बीच समय समय पर आपसी संघर्ष चलता रहा है। इस बात की पुष्टि करते हुए गाँधी भाई हबीब को जवाब देते हुए कहते हैं कि "तुम्हें तारीख का कुछ भी पता नहीं है। हिंदुस्तान की तारीख में ही हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक-दूसरे का खून जितना बहाया है उससे ज्यादा खून तो मुसलमानों ने आपस में लड़ कर बहाया है और अगर दुनिया भर के मुसलमानों की तारीख पर एक सरसरी निगाह डाल लो तो मालूम होगा कि इस्लाम की तारीख आपसी खानाजंगी और खून-खराबे की कभी न ख़त्म होने वाली एक दास्तान है।"[24]

हबीब वली अहमद की बात सुनकर तड़प उठता है और उसे हिन्दुओं का पिट्ठू तक बतलाता है। हबीब के अन्दर अलगाववादी विचारधारा इतना अन्दर तक घर बना चुका है कि उसे साम्प्रदायिक समरसता में मन नहीं बैठता। वह गांधी भाई को कहता है कि "महात्मा जी आप कान खोलकर सुन लें। पाकिस्तान बनकर रहेगा। आप जैसे कौम के दुश्मन भी इसे नहीं रोक सकते। डूब मरने की बात है आप लोगों के लिए। सारी कौम एक तरफ है और आप एक तरफ। मक्के के काफ़िर भी आप लोगों से बेहतर होंगे।"[25] बदीउज़्ज़माँ विभाजन के पहले के भारतीय समाज की मानसिकता का चित्रण करते हुए यह दिखाने की कोशिश की है कि विभाजन के पूर्व मुस्लिम साम्प्रदायिकता लीगियों के बहकावे में आकर उग्र हो गयी थी। कांग्रेसियों के लाख समझाने के बावजूद भी किसी भी तर्क को मुस्लिम साम्प्रदायिक मानने को तैयार नहीं हो रहे थे। उनके मन मष्तिष्क में जो एक बार पाकिस्तान निर्माण का बीज बो दिया गया था वह किसी भी क़ीमत पर अंकुरित होना चाह रहा था। इसीलिए वह किसी की भी बात नहीं मान रहा था। गाँधी भाई पाकिस्तान के सच से वाकिफ थे इसलिए वे समझाते थे कि "मियाँ! भेड़चाल चलने की कोशिश न करो। खुदा ने अक्ल और आँखें दी है। खुद सचाई तक पहुँचने की कोशिश करो। नारों में कुछ नहीं रखा है। पाकिस्तान का ख्याल बहुत बड़ा फरेब है, हसन बिन सब्बाह की जन्नत की तरह।"[26] लेखक ने रामधनी पात्र के माध्यम से स्वतंत्रता पूर्व उग्र होती साम्प्रदायिकता और उसके

विनाशक रूप को भी दिखाया है। रामधनी उपन्यास का हिन्दू पात्र है जो मुस्लिम मोहल्ला में रहता है। रामधनी हिन्दू और मुसलमान दोनों के यहाँ काम करता है। परन्तु ज्यों ही दंगा शुरू होता है रामधनी घबरा जाता है। हिन्दू घराने के लोग उसे सिपर उठाने से मना कर देता है। रामधनी दोनों मजहबों के बीच पिसने लगता है। रामधनी भले ही साम्प्रदायिक सद्भाव के तहत हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रिय था। परन्तु जब दंगा छिड़ता है तब स्थानीय मुसलमान को यह कहे सुने जाते हैं कि "हिन्दुओं ने कोई शरारत की और हमारे आदमी को मारा-पीटा तो हमलोग सबसे पहले रामधनी और नन्हकू साव का सफाया कर देंगे।"[27] इस प्रकार हम देखते हैं कि बदीउज़्ज़माँ बड़ी कुशलता से साम्प्रदायिकता के प्रश्न को उठता है जिसमें उन तमाम अलगाववादियों को बेनकाब करते हैं जो साम्प्रदायिकता को फैलाता है।

शानी का 'कालाजल' मुस्लिम समाज की प्रमाणिक दस्तावेज के रूप में साहित्य में दर्ज है। शानी अपने युवा काल में ही इस कारनामे को कर दिखाया था। उनसे पहले आधुनिक हिंदी साहित्य में मुस्लिम रचनाकारों का कोई योगदान नहीं दिखता है। ऐसे समय में शानी उस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जो दशकों से हिंदी साहित्य के केंद्र में आने को आतुर था। शानी उस घर से आते हैं जहाँ हिन्दू-मुस्लिम साझी संस्कृति का संगम है। उनकी माँ हिन्दू थी और तुलसी पूजा करती थी। शानी एक बेहद संवेदनशील और उम्दा व्यक्तित्व के धनि थे। मगर उनके अन्दर एक डर हमेशा बैठा रहा वह डर कुछ और नहीं बल्कि अल्पसंख्यक होने का डर था। उन्होंने तमाम उम्र साम्प्रदायिकता के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद किया। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जो धर्म निरपेक्ष हो। इसीलिए उन्होंने अपनी कहानियों में साम्प्रदायिकता विरोधी कथ्य को जगह दी। आजादी के बाद लगातार मूल्यों में ह्रास हुआ और अल्पसंख्यकों के मन में असुरक्षा की भावना प्रबल होती गई। शानी ने इसी भावना को साहित्य के पटल पर ला खड़ा किया और साम्प्रदायिकता से जुड़े ज़रूरी सवालों पर सोचने के लिए सबको बाध्य किया। ये ऐसे प्रश्न थे जो मनुष्य को मनुष्य होने के लिए प्रेरित करता है। शानी ने लोगों में यह सन्देश प्रेषित

किया कि आदमी होने की पहली शर्त उसमें आदमियता का होना ज़रूरी है न कि किसी धर्म अथवा जाति विशेष का होकर होने में है। ऐसे में शानी पर यह आरोप लगाना कितना हास्यस्पद है कि वे साम्प्रदायिक थे। कुछ लोगों का मानना था कि शानी हमेशा मस्जिदों में पाए जाते हैं, छिप-छिप कर नमाज पढ़ते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि किसी धर्म के प्रति आस्था रखना साम्प्रदायिक नहीं होता दूसरी यह कि मजहब परस्त होना और हिन्दू विरोधी होना दो अलग बात है। जो लोग उन्हें साम्प्रदायिक कहते हैं उन्हें इस अंतर को समझना होगा। शानी के मन में कभी भी बहुसंख्यकों के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनका तो रोष उन लोगों के प्रति था जो लोग हिंदुत्व के नाम पर अल्पसंख्यकों के साथ ज्यादती करता है। यह ज्यादती करने वाला अल्पसंख्यक भी हो सकता है जो हिन्दुओं के साथ ज्यादती करता है। शानी दरअसल साल में दो बार ही अपने मजहब को तरजीह देते थे। वे मौके हैं ईद और बकरीद। इन मौको पर भी वे अक्सर नमाज अदा नहीं कर शाम को अपने दोस्तों के साथ महफ़िल में बैठा करते थे।

'काला जल' में भी शानी ने कुछ एक जगहों पर साम्प्रदायिकता के प्रश्न को सामने लाया है। उपन्यास में मिर्जा करामत बेग एक हिन्दू लड़की बिट्टी से बहुत प्रेम करता है और उससे ही शादी भी करता है परन्तु साम्प्रदायिक सोच रखने वाले कट्टर मुसलमानों ने इसका विरोध किया और उसे दूसरी शादी किसी मुसलमान लड़की से करने की हिदायत दी जो अल्लाह से डरता हो। इसी साम्प्रदायिक सोच के परिणाम स्वरूप बिट्टी को बी दरोगन होना पड़ा और मिर्जा की दूसरी शादी बिलासपुर वाली मुस्लिम लड़की से हुई। ये कट्टर मुसलमान मिर्जा को किस प्रकार कट्टर धार्मिकता का पाठ पढ़ाता है उसकी एक झांकी देखिये "मियाँ! मुसलमान की औलाद होकर यह क्या हरामखोरी कर रहे हो? खुदा के वास्ते अपने दीन-मज़हब का ख्याल करो। किसी भले घर की लड़की से शादी रचाओ और इस गुनाह से निजात पाओ। कहो, लड़की का बंदोवस्त हम कर दें। एक से एक आला खानदान की नेक, हसीनों-जमील और खुदा से डरने वाली लड़कियाँ जो पंजगाना नमाज़ी हैं और जिनकी जबान पर कुरान शरीफ़ की आयतें धरी हुई हैं।"[28] शानी इस

साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए और साम्प्रदायिक सौहार्द का नमूना दिखाते हुए बिट्टी को मिर्जा से अलग नहीं होने देते हैं और साथ में उसके द्वारा दोनों धर्मों की संस्कृति को समान रूप से पालन करते हुए दिखाते हैं। बी दरोगन पूरी उम्र हिन्दू-मुस्लिम दोनों की भूमिका में प्रस्तुत रहती हैं। न ही वह मुस्लिम संस्कृति को नजरअंदाज करती हैं और न ही हिन्दू पूजा को छोड़ती हैं। एक मुस्लिम व्यक्ति के साथ शादी करके भी मुस्लिम धर्म के साथ-साथ हिन्दू कर्मकांड को साथ अपनाये रखना शानी की धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिक विरोधी मानसिकता का ही प्रमाण है।

मिर्जा अपनी प्रेमिका बिट्टी से बहुत प्रेम करता है और बिट्टी भी उससे बहुत प्रेम करती है, लेकिन साम्प्रदायिक शक्तियों के उग्र होने के कारण उसे अपने आप से कहीं न कहीं समझौता करना पड़ता है और अपने पति की शादी एक बार पुनः किसी दूसरी मुस्लिम लड़की से करानी पड़ती है।

मोहसिन भी एक ऐसा पात्र है जो साम्प्रदायिकता की बेड़ियों को तोड़ते हुए देश हित में कार्य करता है। वह एक कार्यकर्ता के रूप में सबकी भलाई हेतु कार्य करता है, चाहे वह कार्य हिन्दू से संबंधित क्यों न हो। मोहसिन के इस रूप को देखते हुए बब्बन कहता है कि - "मोहसिन को इतना अधिक सक्रिय इससे पहले मैंने कहाँ देखा था? अपने समाज के धार्मिक या सामाजिक उत्सवों में भी वह दूर-दूर से शामिल होता- उतने जी जान से कभी नहीं जुटा। शायद उसका कारण यह था कि वह आयोजन यद्यपि श्री मदभागवतगीता प्रवचन के नाम से था, लेकिन किसी एक धर्म या जाति विशेष के लिए न होकर क्षेत्र की समूची जनता के लिए था।"[29] इस प्रकार हम देखते हैं कि शानी काला जल में साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए एक धर्मनिरपेक्ष समाज की परिकल्पना करते हैं।

इब्राहीम शरीफ़ ने 'अँधेरे के साथ' उपन्यास में एक गरीब असहाय युवक की कथा कही है जिसमें नायक की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण हुआ है। उपन्यास में एक ऐसे चेयरमैन को दिखाया गया है जो मानवीय मूल्यों को ताक पर रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। कथा

नायक उसके इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसका विरोध करता है। राजनीतिक स्वार्थ हेतु व्यक्ति किस हद तक गिर सकता है कि वह साम्प्रदायिकता को हथकंडा बनाकर चुनाव में जीत हासिल करना चाहता है। कथा नायक को जब कहीं काम नहीं मिलता तो वह उस चेयरमैन के वहाँ काम करने जाता है जहाँ चालीस रुपये महावर पर काम मिल जाता है। लेकिन वह काम साम्प्रदायिक होता है जिसमें वोटर लिस्ट में से हिन्दुओं का नाम हटाकर मुसलमानों का नाम जोड़ना रहता है। "देखो, ये सारे इस गाँव के मतदाताओं के नाम हैं...इसमें एक काम करना है ...सबसे पहले इन सारे नामों को पढ़ जाओ...बीच-बीच में से हिन्दू मतदाताओं के कुछ नाम काटते चलो...कुछ नामों के साथ 'मृत' लिख दो। और साथ ही अपने मज़हबी भाइयों के नामों के साथ कुछ और नाम जोड़ते चलो...ऐसा होना चाहिए कि दो-चार वार्डों को छोड़कर बाकी सबमें मुसलमानों का बहुमत हो"[30] इब्राहीम शरीफ़ इस चेयरमैन पात्र की परिकल्पना अपने गाँव के उस सरपंच को लेकर करता है जो उन दिनों गाँव का चेयरमैन हुआ करता था वह इतना साम्प्रदायिक था कि चुनाव में जितने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ हमेशा छल करता था और चुनाव के वक्त ध्रुवीकरण की राजनीति करता था। अपने संस्मरण 'मेरा उपन्यास: अँधेरे के साथ' में लिखते हैं कि "जिसे चेयरमैन कहते उन दिनों वह गाँव में होने वाले चुनावों से पहले तक हिन्दुओं से 'मुहब्बत' करता रहता था और ऐन चुनावों के दिनों में, मुसलमानों के बीच, छिप-छिपकर यह प्रचार करता रहता था कि गाँव के हिन्दू हमारे दुश्मन हैं, इसलिए उनसे टक्कर लेने के लिए गाँव का सरपंच मुसलमान ही होना चाहिए। ... एक बार किसी वजह से चुनाव में हार जाने की वजह से उसने गाँव में हिन्दू-मुस्लिम दंगों का माहौल तैयार कर दिया था"[31] इब्राहीम शरीफ़ ने अपने गाँव के इस यथार्थ को उपन्यास में दिखाकर यह साबित करने की कोशिश की है कि गाँव के हिन्दू-मुस्लिम हमेशा से भाईचारे के साथ रहता आया है परन्तु राजनीतिक नेता को साम्प्रदायिक सौहार्द रास नहीं आती। अपनी चुनावी जीत के लिए ये अलगाववादी नेता हमेशा मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के प्रति ज़हर ही भरा है। इससे नेताओं को तो सत्ता प्राप्त हो जाती है लेकिन गाँव

के हिन्दू-मुस्लिम एक-दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। गाँव में इसी साम्प्रदायिक माहौल की वजह से लोग दो गुटों में विभक्त हो जाते हैं। उन्हें एक-दूसरे के प्रति संवेदनहीन बना दिया जाता है। इस साम्प्रदायिक मानसिकता के कारण आम मुस्लिम व्यक्ति को हिन्दुओं के मंदिर में काम करने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ती है। अंत में भले ही एक हिन्दू मिस्त्री का कलेजा पिघलता है और साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रमाण देता है। उसे मिस्त्री काम पर यह सोच कर रख लेता है कि जो होगा देखा जायेगा। परन्तु साम्प्रदायिक शक्तियों को यह नागवार लगता है और उसे वहाँ से हटाने की हर सफल प्रयास करने लगता है। चेयरमेन मुसलमानों के बीच अपनी राजनीति चमकाने के लिए हिन्दुओं का आन्तरिक रूप से विरोध करता है जिससे मुसलमानों का वोट मिल सके। राजनीतिक पार्टियाँ हमेशा से ध्रुवीकरण की राजनीति करती आई है। भले ही वह सामूहिक तौर पर धर्मनिरपेक्ष की बात करता हो परन्तु अन्दर से ये लोग साम्प्रदायिक राजनीति ही करती है। जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम हमेशा दो पाटों में विभक्त होकर रह जाते हैं। चेयरमैन धर्म का हवाला देकर कथानायक को मंदिर में काम करने के लिए मना करता है, इसके लिए वह गाँव इस तरह की बात करता फिरता है "चेयरमैन ने आज सुबह मुझे बुलाकर तुम्हारे इस काम का जिक्र किया है.. कह रहा था, तुम गाँव के मुसलमानों की आबरू पर पानी फेर रहे हो।"[32] धर्म कभी इर्ष्या या भेद-भाव नहीं सिखाता वह तो हमेशा प्रेम का ही पाठ पढ़ाता है। कोई भी धर्म ये नहीं कहता कि मुसलमान होकर हिन्दू मंदिर में काम नहीं कर सकता या हिन्दू होकर मस्जिद में काम नहीं कर सकता। काम का संबंध आर्थिक ज़रूरत से होती है धर्म अथवा मज़हब से नहीं। कर्म से बड़ा धर्म नहीं होता कर्म ही धर्म होता है। मंदिर जैसी पवित्र जगह पर काम करने से किसी का धर्म ख़राब नहीं हो सकता। लेकिन भारतीय समाज का दुर्भाग्य यह रहा है कि वह प्रत्येक काम अथवा चीजों को धर्म के आईने से देखता है। लोग भले ही भूखा मर जाय लेकिन धर्म के नाम पर कोई समझौता नहीं होना चाहिए। वर्तमान समय में धर्म का ऐसा विकृत रूप लोगों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है जो लोगों को मानवीय मूल्यों से नितांत दूर कर रहा है। धर्म कभी

ऐसा नहीं था कि उसके नाम पर दूसरो की अहित की जाए। धर्म का एक अर्थ सर्वधर्म संभाव भी है। फिर एक धर्म दूसरे धर्म से घृणा कैसे कर सकता है। धर्म को जब आप इस तरह से पेश करते हैं तब उसके मानने वालों के मष्तिष्क में भी धर्म का यही विकृत रूप विकसित होता है जिससे आम लोगों में भी कट्टर धार्मिकता प्रवेश कर जाता है। इस मानसिकता का शिकार कथानायक की माँ भी है- "मंदिर में काम करना अच्छा थोड़े लगेगा बेटे...लानत है ऐसे पेट पालने पर...इज्जत से मर जाना भला है, इससे"[33] इब्राहीम शरीफ़ धर्म के इन ठेकेदारों को खूब समझते हैं। और उनकी असलियत को भी जानते हैं। इसीलिए वो चेयरमैन जैसे साम्प्रदायिक व्यक्ति का पोल खोलते हैं। कथानायक के चाचा चेयरमैन की इस थोथी मजहबियत के नकाब को उतार फेंकता है और उसकी असलियत को सामने प्रस्तुत करता है। वे कहते हैं कि "असल में सवाल मज़हब का नहीं है...मजहब से उसे, सच कहो तो लेना-देना कुछ नहीं है-वह मजहब की रट इसलिए लगाता रहता है कि गाँव के सारे मुसलमान हमेशा उसके साथ लगे रहें...हमारे लोगों को तो खाना-कपड़ा मिले या न मिले, बहु-बेटियों की इज्जत रहे या न रहे मजहब ज़रूर चाहिए, सो भी निहायत गलत ढंग से...ऐसे लोगों को क्या समझाओगे?"[34] वास्तव में धर्म को राजनीतिक मोहरा बना दिया गया है जिसके चपेट में एक बहुत बड़ी आबादी आ चुकी है। वर्तमान समय में भी धर्म को जिस प्रकार से राजनीतिक दलों ने व्यवहार किया है उस तरह से कभी नहीं किया गया था। आज की समस्या यह है कि हम इससे कैसे बचे? धर्म एक ऐसी अफीम बना दी गयी है जिसे पान करने वाले हमेशा अंधभक्ति में डूबे रहते हैं। इब्राहीम शरीफ़ इस नशा को दूर करना चाहते थे इसीलिए वे चेयरमैन की कट्टर धार्मिक राजनीति का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं कि "इन्होंने ही अपने वोटों के लिए जमाने से भाई-भाई की तरह रहते आये हुए हिन्दू-मुसलमानों के दिलों में दुश्मनी पैदा कर दी है...भाइयों, मजहब, बिरादरी वगैरह के चक्कर में आकर आप लोग गलत फैसला मत लीजिए...बेईमान और चरित्रहीन आदमी को अपना चेयरमैन बनाकर अपने पैरों पर खुद कुल्हाड़ी

मत मार लीजिए।"[35] इब्राहीम शरीफ़ यहाँ साफ़-साफ़ राजनीति के साम्प्रदायिक स्वरूप का विरोध करते नज़र आते हैं और इसके जद् में जाने से बचने की भी ज़रूरत को महसूस करते हैं।

संदर्भ सूची:

1. सं. अभय कुमार दुबे, समाज-विज्ञान विश्वकोश, पृष्ठ-2029
2. बिपिन चंद्रा, साम्प्रदायिकता, पृष्ठ-07
3. राही मासूम रज़ा, अधा गाँव, पृष्ठ-13
4. वही, पृष्ठ-58
5. वही, पृष्ठ-239
6. वही, पृष्ठ-240
7. वही, पृष्ठ-240
8. वही, पृष्ठ-71
9. कुंवर पाल सिंह, राही मासूम रज़ा (मोनोग्राफ), पृष्ठ-72
10. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-173
11. वही, पृष्ठ-273
12. वही, पृष्ठ-274
13. सं. एम. फिरोज खान, राही मासूम रज़ा और बदीउज़्ज़माँ मूल्याङ्कन के विविध आयाम, पृष्ठ-24
14. वीरेंद्र यादव, उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृष्ठ-82
15. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-242
16. वही, पृष्ठ-242
17. वही, पृष्ठ-243
18. वही, पृष्ठ-275
19. वही, पृष्ठ-275
20. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-71

21. वही, पृष्ठ-77

22. वही, पृष्ठ-77

23. वही, पृष्ठ-91

24. वही, पृष्ठ-91

25. वही, पृष्ठ-93

26. वही,पृष्ठ-92

27. वही, पृष्ठ-30

28. शानी, काला जल, पृष्ठ-20

29. वही, पृष्ठ-239

30. वही, पृष्ठ-31

31. सं. भीष्म साहनी, आधुनिक हिंदी उपन्यास, पृष्ठ-431,

32. इब्राहीम शरीफ़, अँधेरे के साथ, पृष्ठ-60

33. वही, पृष्ठ-57

34. वही, पृष्ठ-73

35. वही, पृष्ठ-98

4.2. विभाजन की त्रासदी

पंद्रह अगस्त 1947 भारतीय इतिहास के पन्नों में स्वर्णिम अक्षरों से लिखा गया, चूँकि इस तारीख ने हमें आज़ादी प्रदान की। परन्तु आज़ादी के इस सफ़ेद पन्ने पर देश का बँटवारा काले धब्बे छोड़ गया जिसे हम चाहकर भी कभी मिटा न सके। सत्ता लोलुपता और धर्मान्धता ने देश को दो भागों में बाँट दिया। सन् 1940 के आसपास से ही धर्म के आधार पर मुस्लिम लीग द्वारा एक अलग राष्ट्र के निर्माण का फ्रेम तैयार होने लगा था। लीगियों ने यह दुष्प्रचार करना शुरू कर दिया था कि भारत हिन्दू बाहूल राष्ट्र है और कांग्रेस उसी के संरक्षक है। ऐसी स्थिति में मुसलमानों को भारत में हिन्दुओं द्वारा दबाया जायगा, उन पर अत्याचार किया जाएगा। चूँकि भारत में वह अल्पसंख्यक है और हिन्दू बहुसंख्यक। ऐसे में उनके मन में यह भय पैदा करना मुश्किल न था। कई हद तक यह डर वाजिब भी था। तत्कालीन मुसलमानी राजनेताओं ने मनगढ़ंत तकरीरों के माध्यम से मुस्लिम समुदायों का विश्वास जीत लिया। सत्ता हथियाने और एक वर्ग विशेष पर शासन करने की चाहत ने मुस्लिम मानस को गुमराह किया। परिणाम स्वरूप मुल्क को नफरत की लकीर ने दो भागों में विभक्त कर दिया। गांधीजी इस बँटवारे के कभी समर्थन में खड़े न थे परन्तु "सत्ता हथियाने के लिए आतुर कांग्रेसी नेता लीग की साम्प्रदायिकता का विरोध करने के बजाय अंततः हिन्दू और मुसलमान बहुमत के आधार पर देश के बांटे जाने पर सहमत हो गए राजनीतिक सत्ता-प्राप्ति के लिए धर्म को हथियार बनाकर मुस्लिम लीग ने उसी प्रकार मुसलमानों की भावनाओं को उभारा, जिस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय जनता पार्टी और उसके नेता महज़ राजनीतिक सत्ता पाने के लिए हिन्दुओं को उभार रहे हैं।"[1] जिन्ना अपने मनसूबे में कामयाब हो गए। सत्ता की लालच में वे यह सोचना वाजिब नहीं समझे कि इस बँटवारे की कितनी बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। वें तो सिर्फ विभाजन की जिद्द पर अड़े हुए थे और उनके कार्यकर्ता इस जिद्द को पूरा करने में लग गए थे। परन्तु यही कार्यकर्ता आजादी के बाद का मंजर देखकर हजम नहीं कर पा रहे थे। "देश के विभाजन की जो तस्वीर उन्होंने बनायीं थी,

उसका वास्तविक स्थिति से कोई मेल नहीं था। मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता सोचते थे कि मुसलमान चाहे अल्पसंख्यक प्रान्तों के हों या बहुसंख्यक प्रान्तों के रहनेवाले हों, उनका एक अलग राष्ट्र बनाया जायगा और उन्हें अपने भविष्य को स्वयं निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त होगा। अब जबकि मुस्लिम बाहुल प्रान्त भारत से बाहर चले गए, पंजाब और बंगाल भी बंट गए और जिन्ना कराची के लिए रवाना हो गये, तो इन मूर्खों की समझ में आया कि उन्होंने हिंदुस्तान के विभाजन से कुछ भी हासिल नहीं किया, बल्कि वास्तव में सब-कुछ खो दिया।"[2] दोनों सम्प्रदायों के मध्य उपजी वैमनस्य के कारण विभाजन के वक्त कितना दंगा हुआ कितनी आगजनी हुई। लूट, मारकाट, बलात्कार अपने चरम सीमा को पार कर चुकी थी। इस घटना के कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस दंगे ने अनगिनत लोगों की जान ले ली। लोग बेघर होने को मजबूर हो गये थे। कितनी ही महिलाओं का बलात्कार हुआ इसका ठीक ठीक अनुमान लगाना मुश्किल है। एक सर्वे के दौरान यह पाया गया कि "विभाजन के दौरान ठीक-ठीक कितने लोग मारे गए कोई नहीं जानता कितने विस्थापित और बेदखल हुए, नहीं पता मौत के बारे में दो से तीस लाख के बीच अलग-अलग तरह के अनुमान है। कंजूस अनुमान के अनुसार, 1947 के वीभाजन में 5 लाख से दस लाख के बीच औरत, मर्द और बच्चे जिन्दगी से हाथ धो बैठे, 70 हजार से ज्यादा महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ और तकरीबन 1 करोड़ 20 लाख लोग अपने घरों को छोड़कर भागे साथ ही, 1946 से 1951 के बीच लगभग 90 लाख हिन्दू और सिख भारत आये और 60 लाख के करीब मुसलमान पाकिस्तान गए"[3] विभाजन की इस भयावाह घटना ने सबको झकझोर कर रख दिया था। औरतों की बेइजती उनके मर्दों के सामने की जा रही थी। असहाय औरतें अपना पानी उतरवाने से बेहतर कुँए में कूदकर अपनी जान दे देना ज्यादा उचित समझती थी। इस मजहबी दंगों में सबसे ज्यादा अगर किसी को दर्द मिला तो वह है महिलायें। पंजाब और लाहौर के बीच ट्रेनों में केवल लाशें सफ़र कर रही थीं। वर्षों से साथ रह रहे हिन्दू, मुसलमानों, सिखों की आपसी भाईचारे ख़तम हो चुके थे, उनके अन्दर की सहनशीलता

मर चुकी थी सभी असहिष्णु हो चुके थे। "शवों को लेकर जब रेलगाड़ी दिल्ली पहुंची, तो स्थानीय लोगों को सीमा के उस पार बर्बर हत्याकांड की दास्तानें सुनने को मिलीं, जिससे स्थिति और भी ख़राब हो गयी। जिन लोगों के परिवार ख़त्म हो गये और संपत्ति लूट गयी, वे अपने साथ गुस्सा और कड़वाहट लेकर आये। यहाँ उन्होंने अपने इलाकों में दूसरे समुदाय की मौजूदगी पर सवाल खड़े किये।"[4] हिन्दू अपने परिजनों का बदला ले रहे थे और मुसलमान अपने परिजनों का। जो अल्पसंख्यक यहाँ रह गए थे वे इस विभाजन से उपजी दंगें को झेल रहे थे। इस दंगें में मुसलमानों को आर्थिक, राजनीतिक दृष्टि से बहुत नुकसान उठाना पड़ा।

भारतीय इतिहास में विभाजन की त्रासदी को काला दिन के तौर पर आज भी याद की जाती है। बँटवारे की इस चिंगारी ने धीरे-धीरे हजारों जिंदगियों, उनके सपनों को जला कर भस्म कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात बहुत कुछ बदल चुका था। लोग विस्थापित हो चुके थे। अपनी जन्मभूमि से भाग जाना पड़ा था अथवा भगा दिए गए थे। ऐसे में शरणार्थियों की समस्याएँ बढ़ गयी थी। चारों तरफ अफरा-तफरी का मंजर और सड़कों पर बिछी हुई लाशें चीख चीख कर कह रही थी 'आजादी मुबारक हो'। अपमानीत औरतें अपनी कोक्ख को कोस रहीं थी और पूछ रही थी, क्या औरत होना पाप है? घूम-फिर कर मर्दों का सारा जोर औरत जात पर ही उतरता है। बँटवारे के दौरान बहू-बेटियों के अपमानित होने का बदला दूसरों की बहू-बेटियों की इज्जत लूट कर लिया जा रहा था।

वास्तव में विभाजन की त्रासदी भारतीय समाज की एक अमिट वेदना है जिसकी टीस समय समय पर हमें उद्वेलित करती रहती है। परन्तु सवाल यह भी उठता है कि क्या इस विभाजन को रोका जा सकता था? यदि नहीं रोका जा सका तो उसके पीछे का कारण क्या था? सरदार पटेल के अनुसार "यदि हमलोगों ने भारत का विभाजन नहीं किया होता तो परिणामस्वरूप जो कुछ होता, वह उससे कहीं अधिक ख़राब होता, जो बँटवारे के बाद हुआ है। उस समय हमलोग झगर रहे थे और आपस में बुरी तरह लड़ रहे थे। हम जिस धर्मसंकट में पड़े हुए थे और जिन

स्थितियों में हमने अपने आपको डाल लिया था, तीसरी पार्टी उसका भरपूर फायदा उठा रही थी हम लोगों को अपनी स्वाधीनता की क़ीमत चुकानी है। तब हम लोगों ने यह निर्णय लिया कि यदि विदेशी सरकार जल्द-से-जल्द हमें छोड़ने के लिए तैयार है तो क़ीमत के रूप में विभाजन स्वीकार करना उचित है।"[5] दरअसल परिस्थिति ही कुछ ऐसी हो गयी थी कि एक मोड़ पर आकर ऐसा कदम उठाना लाजिमी हो गया था। सरदार पटेल के अनुसार देश में बहुत कलह उत्पन्न हो चुका था। दोनों समुदायों में कट्टरता की भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि एक-दूसरे को देखना तक पसंद नहीं कर रहे थे। ऐसी स्थिति में सत्ता का हस्तान्तरण भी संभव नहीं था, जिसका भरपूर फायदा ब्रिटिश उठा रहे थे। उनका साफ कहना था कि जब तक ये मसला सुलझ न जाय सत्ता का हस्तांतरण मुमकिन नहीं हो सकता है। विभाजन स्वीकार करने के संदर्भ में सरदार पटेल का कहना था कि "हमलोगों ने यह आखिरी कदम बहुत सोच-विचार के बाद उठाया है। विभाजन के संबंध में पहले अपने प्रबल विरोध के बावजूद मैं इससे अब सहमत हो गया, क्योंकि मैंने महसूस किया कि भारत की एकता बनाए रखने के लिए इसे अब विभाजित हो जाना चाहिए।"[6] स्पष्ट समझा जा सकता है कि कांग्रेस ने विदेशी सरकार को हटाने के लिए ही पाकिस्तान को स्वीकार कर लिया था। दंगे रुकने का नाम नहीं ले रहा था। उनके अनुसार दंगों को रोकने के लिए बँटवारा जरूरी हो गया था।

भारत विभाजन की समस्या को केंद्र में रखकर हिंदी साहित्य में कई उपन्यास लिखे गएँ जिनमें राही मासूम रज़ा का नाम अग्रिम है। रही मासूम रज़ा के उपन्यासों में विभाजन से मिली तकलीफों को महसूस किया जा सकता है। वे एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने उस मंज़र को बेहद करीब से देखा और उसे भोगा भी है। उनके उपन्यास को पढ़ते हुए यह साफ तौर पर कहा जा सकता है कि वे इस विभाजन से बहुत दुखी थे। क्योंकि इस विभाजन के विमर्श ने लाखों लोगों की जिंदगियाँ तबाह कर दी थी। चारो तरफ आगजनी और साम्प्रदायिक दंगों ने लोगों को इस हद तक तोड़ दिया था कि वह आने वाले कई वर्षों तक उसके दर्द से उभर नहीं पाया था। विभाजन के

दौरान जिन लोगों ने अपनी संपत्ति खोकर पाकिस्तान जाना चाहा, उनमें कई लोग रास्ते में ही मार दिए गएँ। कुछ लोग अपने बिछड़े साथी की याद लिए वहाँ पहुँचे। कुछ अपने परिजनों को छोड़कर भाग निकले। जो लोग यहाँ रह गये उन्हें वतन में रहने की क़ीमत चुकानी पड़ी। कुछ लोग डर से भागने की कोशिश कर रहे थे लेकिन मार-काट के डर से जा नहीं पाए। राही ने उस दर्द की टीस को कुछ इस प्रकार से बयाँ किया है "आजकल घर से निकलने का जमाना ना है। मार मार-काट मची है। पाकिस्तान बन जाये से त मार-काट अउरो बढ़ गयी है। बड़ी आफ़त है, साहब। अब त रेल रोक-रोक के आदमी मारे जा रहें। लाख-डेढ़ लाख से कम आदमी ना मारे गये होइहें।"[7] राही विभाजन के मूल में लीगियों के हाथ तो बताते ही हैं साथ में वे इस ओर भी ध्यान देते हैं कि इस कुकृत्य में अंग्रेजों का भी भरपूर योगदान था। लेकिन आम मुसलमानों को यह समझ तब आता है जब खुद पर आफत आती है। जब चारों तरफ हाहाकार होने लगता है। बंगाल, दिल्ली, बिहार में हर जगह दंगे शुरू हो जाते हैं। खुद की लगायी आग से जब खुद जलने लगते हैं तब वे सुरक्षित जगह की तलाश करने लगते हैं और अंग्रेजो को भला बुरा कहकर चित्त को ठंडक पहुँचाता है। "ई अंग्रेज बहनचोदन का तोहफा है। हम त ई देख रहें कि पाकिस्ताने जाये में जान की खैर है। ई समझिए की देहली जहाँ कई करोड़ मुसलमान रहे अब हुआँ नाम को मुसलमान ना रह गया है। लड़कियन को हिंदुआ सब अपने घर में डाल लिहिन है। हम त सगीर फातमा के डर से रुके हैं, नहीं त कब के जा चुके होते।"[8]

विभाजन का आम लोगों पर कितना गहरा असर पड़ता है उसका मार्मिक चित्रण राही ने अपने उपन्यास में किया है। पाकिस्तान के निर्माण के बाद लोगों में कई तरह के अफवाह फैलाये जा रहे थे कि हिन्दुस्तान में एक भी मुसलमान जिन्दा नहीं रह पाएंगे, हिन्दू सब मुसलमान लड़कियों की इज्जत लूट रहे हैं। ऐसे में कई परिवार पाकिस्तान की ओर भागने लगे परन्तु दिक्कत तब और बढ़ जाती है जब एक ही घर के कुछ सदस्य पाकिस्तान चले गए और कुछ हिंदुस्तान में रह गए। राही दिखाते हैं कि विभाजन के दौरान इस अफरा-तफरी का अंजाम क्या

होता है- "एक दिन सफिरवा सगीर फातमा समेत पाकिस्तान के लिए चल पड़ा। बछनिया बहुत रोयी। रब्बन-बी ने सफिरवा को समझाया कि बाप-दादा की चौखट नहीं छोड़ी जाती। मगर वह नहीं माना। वह चला गया। दिल्ली और अमृतसर के बीच में रेल कहीं रुकी। बच्छन और सगीर फातमा सरहद के इधर ही रह गयीं। सफिरवा बच्चों की लाशें लेकर सरहद पार कर गया।"[9] लेखक ने विभाजन और उसके परिणाम को गहरी संवेदना के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। यह वक्त कितना क्रूर था। चारों तरफ आगजनी, लूट, बलवा, साम्प्रदायिक दंगे इतने भीषण रूप ले चुके थे कि लाखों की संख्या में लोग मारे जा रहे थे। एक तरफ पाकिस्तान से हिन्दुओं को मार मार कर भगाया जा रहा था तो दूसरी तरफ हिंदुस्तान से भी मुसलमानों को भगाया जा रहा था। धर्म के आधार पर देश को बांटकर कुछ लोगों के स्वार्थ ने लोगों को सड़कों पर मरने के लिए ला खड़ा कर दिया था। इस वीभत्सता का चित्रण राही ने इस प्रकार किया है "चारों तरफ इतने बड़े-बड़े शहर धायँ-धायँ जल रहे थे कि उस आग में बच्छन और सगीर फातमा एक तिनके की तरह पड़ी और भक से उड़ गयीं। दिल्ली, लाहौर, अमृतसर, कलकत्ता, ढाका, चटगाँव, सैयदपुर, रावलपिंडी, लालकिला, जामा मस्जिद, गोल्डन टेम्पुल, जलियांवालाबाग, हाल बाजार, उर्दू बाजार, अनारकली अनारकली ना नाम सगीर फातमा था, या रजनी कौर या नलिनी बनर्जी था - अनारकली की लाश खेत में थी, सड़क पर थी, मस्जिद और मंदिर में थी और उनके नंगे बदन पर नाख़ूनों और दांतों के निशान थे। और लोगों ने खून से भीगे हुए गररों, शलवारों और सदियों के टुकड़ों को यादगार के तौर पर हाफ्जे के संदूकों में सैंत-सैंत कर रख लिया था"[10] विभाजन की लकीर ने न सिर्फ दो देशों को अलग किया था बल्कि वह मानसिक स्तर भी सबको एक-दूसरे से अलग कर दिया था। लेकिन राही इससे एक कदम आगे की स्थिति को बतलाते हैं। वो कहते हैं कि इस देश का बँटवारा भले ही हिन्दू-मुसलमानों को अलग करने के लिए हुआ था लेकिन अब ये भाई को बहन से अलग कर रहा था। बाप को बेटा से, माँ को पुत्र से, पत्नी को पति से। राही ने इस स्थिति का बेहद उम्दा अंकन किया है। उन्होंने उपन्यास में दिखाया है कि

पाकिस्तान के भारत से अलग हो जाने के कारण मुस्लिम परिवार किस कदर बिखर गया। इस प्रसंग में गाँव के हाकिम साहब का वक्तव्य देखा जा सकता है "ई पाकिस्तान त हिन्दू-मुसलमानन को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देख रहे कि ई मियाँ-बीवी, बाप-बेटा और भाई-बहिन को अलग कर रहा।"[11] हिन्दुओं के परिवारों के साथ ऐसा नहीं हुआ था। हिन्दू के परिवार या तो सभी आ गए थे या सभी मारे गये थे। परन्तु मुस्लिम परिवारों के साथ ऐसा नहीं हुआ था। उनका परिवार बंट गया था। कुछ पाकिस्तान कुछ हिंदुस्तान।

देश आजाद होने के बाद बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। देश में नए कानून लागू हो रहे थे जमींदारी ख़तम कर दी गयी थी। ऐसे में मुसलमानों में क्षोभ पैदा हो गया था। राही बताते हैं कि जमींदारी ख़तम हो जाने से मुसलमान चप्पल या पान की दुकान नहीं खोल सकते थे इसी वजह से उन्हें पाकिस्तान जाना पड़ा। चूँकि वहाँ उन्हें जानने वाला कोई नहीं था। लेकिन उन्हें वहाँ मुहाजिर व शरणार्थी ही बन कर रह जाना पड़ा। जो लोग यहाँ रह गये थे खासकर ऐसे लोग जिनका कुछ लोग पाकिस्तान जा चुके थे ऐसे लोगों पर गरीबी और भूख मरी का पहाड़ टूट पड़ा। इस संदर्भ में राही गाँव के हाकिम साहब की स्थिति कुछ इस प्रकार लिखते है- "एक ठो बेटा रहा¨ऊ पाकिस्तान चला गया। एक ठो जमींदारी रही, ऊको समझो कि पाकिस्तान चली गयी। अरे, जउन चीज हमरे पास ना है, ऊ पाकिस्ताने न गयी? हमरे पास रह का गवा है? एक ठो बेबा बेटी, तीन ठो यतीम नवासे-नवासी, एक ठो बहू और उहो बेवा ही है! तीन ठो पोते-पोती; उहो को यतीमे समझो। नौ ठो परानी का पेट कैसे चलायें?"[12] हाकिम साहब की यह तकलीफ पूरे मुस्लिम समाज की तकलीफ है जिनको उनके परिवारवालों ने यहाँ छोर दिया था।

कुल मिलाकर राही ने इस उपन्यास में विभाजन से उपजी गंगौली गाँव की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का मार्मिक अंकन किया है। इस गाँव की समस्यायों के माध्यम से पूरे भारत की समस्या को समझा जा सकता है। राही ने विभाजन के बाद मुस्लिम समाज में पैदा होने वाली तन्हाई को भी दर्शाया है जब योग्य लड़के पढ़-लिखकर पाकिस्तान चले जाते हैं

जिनके कारण गाँव की कुँवारी लड़कियाँ शादी के योग्य हो जाने के बाद भी कुँवारी बैठी है और माँ बाप की समस्या का कारण बनी हुई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राही स्वातंत्र्योत्तर भारत के मुस्लिम समाज की विभाजन से मिले हुए तकलीफों का यथार्थपरक अंकन करते हैं।

राही के समकालीन उपन्यासकार बदीउज़्ज़माँ ने भी विभाजन की पृष्ठभूमि पर 'छाको की वापसी' उपन्यास लिखा है जिसमें बदीउज़्ज़माँ ने बिहार के ऐतिहासिक शहर गया के मुसलमानों का विभाजनोत्तर स्थिति का मार्मिक अंकन किया है। बदीउज़्ज़माँ ह्रदय से संवेदनशील थे उन्हें विभाजन से बहुत दुःख हुआ था। उनके अपने परिवार के कई सदस्य पाकिस्तान निर्माण के बाद भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गए थे। बदीउज़्ज़माँ ने विभाजन की त्रासदी को स्वयं भोगा था। इस लिहाज से उपन्यास में उन्होंने जिस सच्चाई को साफगोई से कहा है, उसमें कल्पना कम इतिहास ज्यादा झलकता है। विभाजन के बाद जाने वाले लोग तो चले ही गए थे, लेकिन जिन लोगों ने यहीं रहना स्वीकार किया था उनलोगों का दर्द दोहरा था। उनके मन में एक डर हमेशा बैठा हुआ था कि कब उनके साथ क्या हो जाए। कई तरह की अफ़वाह भी लोगों में दहसत का माहौल फैला देता था। लेखक ने बड़ी संजीदगी से 'छाको की वापसी' उपन्यास में विभाजनोत्तर यथार्थ का चित्रण किया है- "तरह-तरह की बातें वातावरण में उछल रही थीं। देखना अब जो मुसलमान यहाँ रह जाएँगे उनकी क्या हालत होती है। सब हिन्दू बना लिए जाएँगे। चोटी रखनी पड़ेगी। जो यह सब नहीं करेंगे उन्हें चुन-चुन कर मार डाला जाएगा।"[13] मृत्यु-भय किसी को आतंकित कर देता है। विभाजन के बाद दंगे रुक नहीं रहे थे। लोगों में भय का आतंक बढ़ता ही जा रहा था। ऐसे में लोग इधर-उधर भाग रहे थे। विभाजन वास्तव में भारतीय संस्कृति और मानवीय-मूल्यों की सबसे बड़ी हार थी। जिसका हर्जाना आज तक लोगों को भरना पड़ रहा है। विभाजन ने लोगों को जड़ से उखाड़ दिया था। वर्षों के लगे पेड़ को एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह लगाने से वह मर जाता है या ज़मने में बहोत समय लगता है। विभाजन के सैलाब में ऐसे कितने ही पेड़ उखड़ गए थे जो मुरझा कर मर गए थे- "लोग काफिला-दर-काफिला

पूरब और पच्छिम की तरफ भाग रहे थे। कोई कराची जा रहा था तो कोई लाहौर। कोई ढाका जा रहा था तो कोई चटगांव। सदियों की जमी-जमाई जिन्दगी उखड़ने लगी थी।"[14]

विभाजन से उपजी दंगों का भी बदीउज़्ज़माँ ने सूक्ष्म एवं यथार्थपरक चित्रण किया है। विभाजन उपरांत हुए दंगों में मानवीय मूल्यों का ह्रास होते हुए लेखक ने दिखाया है। व्यक्ति का अस्तित्व ही धूमिल होने के कगार पर आ खड़ा होता है। दंगा किसी भी मजहब की देन नहीं है व्यक्ति निजी स्वार्थ हेतु धर्मान्धता का शिकार हो जाता है। लेखक दिखाते हैं कि दंगा पूरे देश में चरम पर आ पहुँचा है। वह किसी भी वक्त गया तक पहुँच सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दंगा से कोई भी व्यक्ति भयमुक्त नहीं था। विभाजन ने लोगों का सुख-चैन छीन लिया था। लेखक ने उपन्यास में कई जगह पर दंगा होते दिखाया है और उस दंगे से होने वाले भय का फैलाव का भी जिक्र किया है-"हिंदुस्तान और पाकिस्तान में जो दंगे हो रहे थे, उनका असर हमारे शहर पर भी पड़ रहा था। एक तनाव की स्थिति बनी हुई थी। कुछ पता नहीं कब क्या हो जाए। रात में अक्सर ही वहम होने लगता था कि आस-पास कहीं दंगा हो रहा है। और हमारे मुहल्ले पर भी धावा बोला जाना है।"[15] लोग इतने दहसत में आ गये थे कि किसी भी तरह जान माल की हिफाजत किया जाए। उसके लिए पाकिस्तान जाना जरूरी महसूस होने लगा था। लोग अपनी जमीन-जायदाद कम क़ीमत में भी बेचकर भाग जाना मुनासिब समझ रहे थे। बदीउज़्ज़माँ ने उपन्यास में दिखाया है कि लोगों को सुरक्षित स्थान में जाने के लिए अपना सबकुछ या तो छोड़ना पड़ा अथवा बेचना पड़ा। उनके पास कोई ऑप्शन शेष नहीं बचा था। देश का माहौल ही कुछ ऐसा हो गया था कि उन्हें यहाँ से भागना पड़ा। कुछ तो अफवाह मात्र ही थी। लोगों को पाकिस्तान जाने के लिए उन्हें भरकाया जा रहा था। आम आदमी क्या करता उसके अन्दर डर भर गया था और वे लोग सब कुछ खोकर भी जिन्दगी आबाद करना चाहते थे इसीलिए घर की सारी वस्तुओं को बेचकर किसी तरह यहाँ से सुरक्षित चला जाना चाह रहे थे। "अपने बर्तन-वासन तक बेच रहे थे। बस एक ही चिंता लगी हुई थी। किसी न किसी तरह सरहद पार करके पाकिस्तान

पहुँच जाएँ।"[16] विभाजन का मंज़र देख बदीउज़्ज़माँ की आत्मा उद्वेलित थी। उनके हृदय के किसी कोने में वह भयावह सफ़र, मार-काट और मनुष्यों को जानवरों में तब्दील होते देखा था। विभाजन ने लोगों का घर तो छिना ही था उनसे उनकी आदमियत भी छीन लिया था। शरणार्थियों को भेड़-बकरियों की तरह रखा जा रहा था। रास्ते में छुट गए लड़कियों को सरेआम नग्न करेक बेचा जा रहा था। लोगों की भीड़ जानवरों सा व्यवहार कर रहा था। भूख और डर उनके चेहरे की नूर छीन लिया था। इस बेबसी का दृश्य लेखक ने कुछ इस प्रकार दिखाया है "पूरा प्लेटफार्म और स्टेशन के बाहर का मैदान शरणार्थियों से भरा हुआ था। धूप और भूख से झुलसे हुए चेहरे! अपनी जमीन से उखड़े हुए इंसानों का एक समुद्र मेरे सामने फैला हुआ था। मैं इस विशाल जन समूह को बहुत देर तक देखता रहा था और धीरे-धीरे एक ख्याल मेरे दिमाग में फैलता चला गया था। कभी इनमे से हरेक व्यक्ति एक इकाई रहा होगा। उसकी अपनी एक जमीन रही होगी। एक छोटा-मोटा घर रहा होगा। इन सबसे जुड़ी हुई एक परम्परा रही होगी। और अब इनमें से कोई विशिष्ट इकाई नहीं है। हरेक व्यक्ति एक बहुत बड़ी भीड़ का हिस्सा है जिसकी अपनी कोई अलग पहचान नहीं है। जानवरों के झुण्ड की तरह सब एक-दूसरे में इस तरह मिले गये हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मुझे लगा था कि मैं आदमियों के बीच में नहीं खड़ा हूँ। जानवरों का एक बहुत बड़ा झुण्ड है जिसने मुझे चारों तरफ से घेरे रखा है।"[17]

पाकिस्तान निर्माण के बाद हबीब भाई भी पाकिस्तान चला जाता है। वह आरंभ से ही पाकिस्तान के पक्ष में खड़ा था। उसके दिमाग में यह बात घर कर गयी थी कि पाकिस्तान में अच्छी नौकरी और अच्छा जीवन मिलेगा और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि सभी अपने धर्म के लोग होंगे। मुसलमान यह मान कर चलता है कि मुस्लिम आपस में बैर नहीं रखते। हबीब भाई को भी ऐसा लग रहा था। लेकिन उसका यह यकीन पूर्वी पाकिस्तान जाकर झूठ में बदल जाता है। वहाँ जाने के बाद वह देखता है कि वहाँ के बंगाली मुसलमान बिहार के मुसलमानों से नफरत करते हैं। उन्हें देख नहीं सकते, ऐसी स्थिति में दंगा होना लाजिमी हो जाता है। हबीब जैसे लोग

वहाँ के दंगे और बंगाली मुसलमानों का व्यवहार देखकर दुखी होता है। इस प्रकार हबीब जैसे हजारों लोग वहाँ की जमीन से जुड़ नहीं पाते हैं न ही अपनी जन्म भूमि को भूल पाते हैं, और न ही वहाँ की संस्कृति में घुल पाते हैं। वहाँ के लोगों की रीती-निति सब यहाँ के लोगों से अलग होती है। कुल मिलाकर विभाजन के बाद वहाँ गए मुसलमान अपने वतन, अपने राष्ट्र से अलग होने के दर्द को महसूस करता है। उनका मोह भंग हो जाता है। हबीब कहता है कि "बंगालियों में जरा भी कौम की मुहब्बत नहीं है। इनका रवैया पाकिस्तान को बहुत नुकसान पहुँचा रहा है। कितने अफ़सोस की बात है कि ढाके में बंगाली और बिहारी मुसलमानों का दंगा हुआ है। बहुत से लोग मारे गए हैं। क्या तुमने कभी सुना था कि मुसलमान इस तरह एक-दूसरे का खून बहायेंगे? हिन्दू-मुस्लिम दंगे तो होते रहते थे, लेकिन मुसलमानों का भी आपस में दंगा हो सकता है।, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। समझ में नहीं आता कि बंगालियों को हम लोगों से इतनी नफ़रत क्यों हैं। हमारी जबान, हमारा रहन-सहन, हमारे तौर-तरीके उन्हें क्यों बुरे लगते हैं? इन बंगालियों की अक्ल पर बड़ा गुस्सा आता है। इनके सामने इकबाल का कोई शेर पढों तो यों मुंह ताकने लगते हैं जैसे भैस के आगे बीन बजाई गयी हो। इन्हें तो टैगोर का गीत चाहिए। टैगोर को सुनकर ये फड़क ही तो उठाते हैं। जिस घर में जाओ रविन्द्र संगीत की मनहूस धुनें सुनाई देगी। बहुत ही मनहूस नक्शा है यहाँ का। मैंने कभी ख्वाब में भी नहीं सोचा था कि पाकिस्तान में यह सब देखने-सुनने को मिलेगा।"[18]

विभाजन की त्रासदी झेल रहा छाको इस उपन्यास का मुख्य पात्र है। बदीउज़्ज़माँ ने छाको के रूप में उन तमाम मुसलमानों के दर्द को उकेर कर रख दिया है जो विभाजन के बाद घर से जाने अनजाने बेघर हो गए थे। अपना घर अपनी जमीन से बेदखल होने का दर्द वही समझ सकता है जिनसे उनका घर, उनकी जमीन छीन गयी हो। विभाजन के वक्त लाखों की संख्या में हिन्दू और मुसलामान दोनों का घर, जमीन छीन गया था। छाको न चाहते हुए भी पाकिस्तान का वासिन्दा बन गया था परन्तु उसकी आत्मा भारत से कभी अलग नहीं हो सकी। वह अंत तक भारत लौट

आने की चाहत लिए भटकता, रोता, सिसकता रहा परन्तु विभाजन की रेखा ने उसे अपनी जमीन से उखाड़ दिया था। उसके परिवार को उससे अलग कर दिया था। अब वह कानूनन भारत में नहीं रह सकता था। विभाजन का सबसे बड़ा दर्द यही था कि लोग अपनी जन्मभूमि को लौटने को तरस गये लेकिन उन्हें वह नसीब नहीं हुआ। छाको बार बार मिन्नतें करता है कि "हमको यहीं रहने दीजिए हुजूर! वहाँ मत भेजी हमको। हम मर जाएँगे हुजूर लेकिन वहाँ नहीं जाएँगे। हम यहीं के रहने वाले हैं हुजूर! हमको रहने दीजिए यहाँ।"[19] लेकिन छाको की लाख कोशिशों के बावजूद भी उसे अपनी जन्मभूमि को अलविदा कहना ही पड़ता है। उनके परिवारवाले उसे रिक्शा पर छोड़ने आते हैं। यह विडंबना तत्कालीन विभाजित भारत के माथे लिखा था जिसे इस वर्ग ने अपनी किश्मत समझकर अपना लिया लेकिन कौन जानता था कि यह सब किसकी भूल थी? किसकी चाल थी? जिसकी भी करनी रही हो सजा हमेशा आम आदमी को ही भोगना पड़ता है। छाको जैसे हजारो लोगों ने इस त्रासदी की करुण वेदना को झेला था।

शानी का उपन्यास 'काला जल' एक मध्यवर्गीय भारतीय मुस्लिम परिवार की सामाजिक यथार्थ का मार्मिक अंकन है। इसमें सन् 1910 से लेकर आजादी के कुछ बाद तक के समय को मुस्लिम मानस की दृष्टिकोण से समेटा गया है। भारतीय समाज हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का वाहक रहा है लेकिन उसमें सामंजस्य की कमी हमेशा रही है। ये दोनों एक बिंदु पर आकर एक-दूसरे से अपने को अलग कर ही लेते हैं। यह अलगाव ही भारतीय विभाजन का मुख्य कारण है। शानी ने इस अलगाव और उसके परिणाम को स्वातंत्र्योत्तर भारत में रह गये मुस्लिम मानस के जीवन पर पड़ते असर को दिखाया है। आजादी के बाद बदलते मूल्यों और एक-दूसरे के प्रति खंडित होते विश्वास ने भारतीय समरसता एवं भाईचारावाद को नष्ट कर दिया। डॉ. राजकुमार शर्मा अपने लेख 'जनवादी चेतना के कथाकार: शानी' में लिखते हैं कि "आजादी के बाद हमने जिस तेजी से उन मूल्यों को खोया है जिन्हें हमने स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान एक लम्बे वैचारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्ष से हासिल किया था। वे मूल्य थे राष्ट्रीयता, लोकतंत्र,

धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद। इन मूल्यों के विकास की प्रक्रिया के दौरान हमने लोक जीवन में जो भावात्मक और मनोवैज्ञानिक सामरस्य अर्जित किया वह लगातार रिसता गया। भारत-पाक विभाजन और उसके पूर्व के भीषण साम्प्रदायिक दंगों ने हिन्दू और मुसलमानों को एक बार फिर एक-दूसरे के प्रति अनेक स्तरों पर अजनबी और संदेहशील बना दिया। आजादी के बाद शोषक वर्ग की चुनावी राजनीति ने अपने वर्ग हितों के अनुकूल इस अलगाव को नित नए रूपों में बढ़ाया।"[20] शानी उस बिरले समाज की उपज थे जो हमेशा से इन मुद्दों पर बेबाकी से कहने की ताकत रखते थे। विभाजन के उपरान्त मुस्लिम समाज के साथ जो दोहरी मापदंड अपनायी गई उससे काफी नाराज थे। इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में मुस्लिम समाज के साथ हुए अन्याय को चित्रित किया है। विभाजन के बाद जो मुसलमान यहाँ शेष रह गये थे और जिन मुसलमानों ने आजादी की लड़ाई लड़ी थी, आजादी मिलने के बाद उन मुसलमानों के साथ भी वही वर्ताव किया गया जो आम मुसलमानों के साथ किया गया। आजादी की लड़ाई में जिन मुसलमानों ने जान दी थी उनकी कुर्बानी बेकार साबित हुई क्योंकि उनके परिवार वालों को उनकी सहादत का कोई मोल प्राप्त नहीं हो सका। एक तरह से ऐसे लोग ठगे गए। शानी ने इस ठगी को 'काला जल' उपन्यास के पात्र मोहसिन के द्वारा दिखाया है। मोहसिन आजादी की लड़ाई में अपने स्तर पर नायडू के साथ मिलकर सहयोग करता है लेकिन उसे आजादी के बाद चाय में पड़ी मक्खी की तरह निकाल कर अलग कर दिया जाता है। जो लोग इसमें भाग लेने से बचते फिरते थे वही लोग आजादी के बाद मलाई खाता हुआ नज़र आता है। मोहसिन की इस पीड़ा को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है "सन् सैंतालिस के पंद्रह अगस्त के बाद से वैसे लोगों की बाढ़ सी आ गयी है। अच्छा हुआ तुम उस दिन यहाँ नहीं थे, वरना शायद तुम्हें भी मेरी तरह दुःख होता। हर ईमानदार आदमी या तो उन पर हँसता है या अपना ही माथा पीट लेता है। बताओ, क्या यह रोने का मुकाम नहीं है कि सचमुच त्याग और बलिदान के अवसर पर जो नौकरी या नकली प्रतिष्ठा की आड़

लिए सिर छिपाए बैठे थे, वे गांधी टोपी ओढ़ कर पाप धो बैठे और आज नेता, सरपरस्त तथा देशभक्त हैं और मिनटों में हम लोगों का भाग्य बना-बिगाड़ सकते हैं..."[21]

विभाजन के बाद हुए बदलाव ने व्यक्ति के सोच को बदलकर रख दिया था। विभाजन की त्रासदी को झेल रहे व्यक्ति विशेषकर मुस्लिम समाज में काफी बदलाव ला दिया था। उनकी स्थिति अब पहले जैसी किसी भी स्तर पर नहीं थी। एक तो इनकी जमींदारी चली गयी थी दूसरी इनकी वतनपरस्ती अब संदेह के घेरे में आ चुकी थी और तीसरी इनके बीच डर का अजीब माहौल पैदा हो गया था। शानी ने इस डर को जीया है और उसी तरह अपने उपन्यास में भी उस डर को मोहसिन में जिया है। विभाजन के बाद मोहसिन एकदम से अकेला पड़ जाता है जिन सपनों के साथ उसने आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया था वह सब बिखड़ गया था। उसकी जो हैसियत आजाद भारत में होनी चाहिए थी उसे उसके ठीक विपरीत प्राप्त होती है। वह कहता है कि "यहाँ आदमी की कद्र ही नहीं है" मोहसिन ने दांतों को चबाकर कहा, "जो जितना बड़ा बेईमान है, वह उतना ही बड़ा आदमी है...और चाहे घर हो या बाहर, ईमानदारी से चलने वाले को नायडू की सी मौत मिलती है..कोई नाम लेवा भी नहीं रह जाता.."[22]

जो व्यक्ति अपनी उम्र का एक हिस्सा आजादी की लड़ाई में खपा देता है वही व्यक्ति इस भ्रष्ट तंत्र को देखकर टूट जाता है। उसका मोह भंग हो जाता है इसलिए बब्बन से कहता फिरता है कि-"यहाँ जिन्दगी भर बीच के आदमी बने रहोगे, न इधर के, न उधर के। तुम्हारे जैसा आदमी वहाँ पता नहीं कहाँ से कहाँ पहुँच जाए। अशफाक मास्टर को तो तुम अच्छी तरह जानते होगे। प्राइमरी स्कूल की मास्टरी करते थे। यहाँ रह कर शायद सात जनम में भी अपने बच्चों की इतनी तरक्की नहीं देख पाते। वहाँ उनका बड़ा लड़का विलायत हो आया है, दूसरा एयर सर्विस में है"[23] मोहसिन का इस तरह टूट जाना शानी का खुद का टूटना था। जब वह आजाद भारत में संदेह की दृष्टि से देखे जाते हैं। जब उन्हें यह सुनने को मिलता है कि मुसलमानों को यहाँ मार मार कर ठीक करके रखा गया है। मोहसिन को अब जाकर महसूस होता है कि उसने अब तक जो किया था वह

सब बेकार साबित हुआ। जिन्हें मौके मिलने चाहिए थे उन्हें ठेंगा दिखा दिया गया और जो मौकापरस्त था वो आज कुर्सी संभाले हुए है। मोहसिन के इस दर्द को लेखक कुछ इस प्रकार बयां करते हैं "यह कि अपनी पिछली सारी बातें बेवकूफियों से भरी लगती हैं। कैसी कैसी उठापटक नहीं मचायी, क्या क्या बचपना नहीं किया? आज सोचने पर हंसी आती है..हुंह, देश का उद्धार करने चले थे..."[24]

'छाको की वापसी' और 'आधा गाँव' की तरह शानी के उपन्यास 'काला जल' में भी भारतीय विभाजन के बाद लोगों का हिंदुस्तान से पाकिस्तान जाने का चित्रण मिलता है। बँटवारे के बाद लाखों की संख्या में लोग बेघर हुए थे। उन्हें एक अनजान देश में जाना था जिसकी कभी उसने कल्पना नहीं की थी। व्यक्ति को जीवन में कई बार ऐसा कदम उठाना पड़ता है जिसे वह पूरे मन से करना नहीं चाहता है। पाकिस्तान गए मुसलमानों में अधिकांश भय का शिकार हुआ था जिसकी वजह से यहाँ से जाना पड़ा था। लेकिन इस आवागमन में जाने कितने ही परिवार टूट गए, कितनों की इज्जत लूट गई, कितने अपने परिवार से बिछड़ गए। एक ही गाँव के लोग किसी न किसी बहाने से हिंदुस्तान को छोड़कर भागे थे। "दरअसल, मेरी आँखों के सामने, 48 के बाद का वह ज़माना घूस गया जब कसबे के कई लोग और हमारे ही रिश्तेदार पाकिस्तान भाग रहे थे। रफीक उड़ीसा जाने के बहाने भागा। गनी ने रातोरात हिन्दुओं की पोशाक बदली थी और अशफाक मास्टर सबको इस धोखे में रखकर भागे कि वह अपने लड़के से मिलने जा रहे हैं"[25] लेकिन जो लोग तरक्की के लोभ में अपने परिवार को छोड़कर भागे थे उनके परिवार के वृद्धों की दयनीय स्थिति हो गयी थी। शानी उपन्यास में दिखाते हैं कि अशफाक के पाकिस्तान चले जाने के बाद उसकी बेवा माँ अपने दूसरे बेटों के साथ यहाँ हिंदुस्तान में रह जाती है। एक माँ के एक पुत्र पाकिस्तान में हो और दूसरा हिंदुस्तान में ऐसी स्थिति में उस माँ की हालत को समझा जा सकता है। अपने बेटे की याद में वह तड़पती रहती है लेकिन विभाजन की रेखा ने माँओं के कलेजों को भी दो टुकड़े में बाँट दिया था। 'काला जल' में एक प्रसंग आया है जिसमें शानी ने

ऐसी माँओं की स्थिति को उजागर करने की कोशिश की है। "अशफाक की अस्सी-बयासी बरस की बेवा माँ अपने दूसरे बेटों के कारण यहीं रह गयी है। रुई जैसे सफ़ेद बाल लिए वह दो देशों के बीच लटकी जैसे मकड़ी की जिन्दगी जी रही है-एक छुटता नहीं, दूसरा जुड़ता नहीं"[26] एक माँ के लिए इससे बड़ा दर्द और क्या हो सकता है। इस प्रकार देखते हैं कि शानी के उपन्यासों में विभाजन की करुण दंश झेल रहे व्यक्तियों की दशा कितना हृदय विदारक है।

संदर्भ सूची:

1. शिवकुमार मिश्र, साम्प्रदायिकता और हिंदी उपन्यास, पृष्ठ-77
2. असगर अली इंजिनियर, भारत में साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, पृष्ठ-104
3. (सं) नामवर सिंह, आलोचना पत्रिका (जनवरी-मार्च 2019), पृष्ठ-29
4. राम पुनियानी, साम्प्रदायिक राजनीति: तथ्य एवं मिथक, पृष्ठ-77
5. (सं) डॉ. प्रभा चोपड़ा, भारत विभाजन, पृष्ठ-235
6. वही, पृष्ठ-193
7. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-282
8. वही, पृष्ठ-282
9. वही, पृष्ठ-282
10. वही, पृष्ठ-282
11. वही, पृष्ठ-284
12. वही, पृष्ठ-322
13. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-20
14. वही, पृष्ठ-21
15. वही, पृष्ठ- 23
16. वही, पृष्ठ-22
17. वही, पृष्ठ-147
18. वही, पृष्ठ-130
19. वही, पृष्ठ-170
20. जानकी प्रसाद शर्मा, शानी आदमी और अदीब, पृष्ठ-86
21. शानी, काला जल, पृष्ठ-289

22. वही, पृष्ठ-289

23. वही, पृष्ठ-291

24. वही, पृष्ठ-290

25. वही, पृष्ठ-291

26. वही, पृष्ठ-292

4.3. अशिक्षा और आर्थिक दुरावस्था

किसी भी व्यक्ति के लिए शिक्षा उसके जीवन का आधार होती है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है। एक राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा का अहम् योगदान होता है। अशिक्षित व्यक्ति न स्वयं का ही विकास कर सकता है न राष्ट्र निर्माण में उपयुक्त योगदान दे सकता है। आरंभ में शिक्षा पर केवल विशेष वर्गों का अधिकार था, धीरे-धीरे शिक्षा पर मनुवादियों के वर्चस्व को नकारा गया। परिणामस्वरूप आज शिक्षा पर गरीब, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक सभी वर्गों का अधिकार है। लेकिन आज भी भारत में मुसलमानों का शैक्षिक अनुपात अन्य समुदायों से कम है। इसके कई कारण हैं। मुसलमानों में बेरोजगारी, गरीबी की अधिकता के कारण भी इस समाज का शैक्षिक विकास नहीं हो पाया। यह समस्या शहर की अपेक्षा गाँव में अधिक है। जाहिर सी बात है कि गाँव की आर्थिक स्थिति शहर की तुलना में अच्छी नहीं होती है। इस वजह से आज भी गाँव में रहने वाले मुस्लिम परिवारों के बच्चे बहुत कम ही पढ़ते-लिखते हैं। यदि पढ़ते भी हैं तब भी 6 से 14 वर्ष की आयु के भीतर अधिकांशतः किन्ही कारणों से स्कूल छोड़ देते हैं, जिसके पीछे प्रमुख कारण आर्थिक संकट होता है। परन्तु वहीं जिन लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी है, उनके घरों में शिक्षित व्यक्तियों का भरमार हैं। सरकारी नौकरियों में भी इनकी भागीदारी देखी जाती है। अशिक्षित मुस्लिम वर्ग कुछ धूर्त मुल्ला-मौलवियों के चक्कर में पड़कर आधुनिक जीवन से कटा हुआ है। उनके जीवन में वैज्ञानिकता का अभाव दिखता है। वे पुरानी मान्यताओं और रूढ़ परम्पराओं के घेरे में संकुचित जीवन यापन करने को बाध्य हैं। यही कारण है कि ये लोग दूसरे समुदायों के बरअक्स पीछे पड़े हुए हैं। एक रिपोर्ट के मुताबिक "भारतीय मुसलमान शिक्षा के मामले में लगभग हर स्तर पर पिछड़े हैं। उनकी साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से बहुत कम है। प्राथमिक शिक्षा के बाद स्कूल छोड़ देने वाले मुस्लिम बच्चों की संख्या सबसे ज्यादा है। इसी कारण स्नातक तथा स्नातकोत्तर करने वाले मुस्लिम विद्यार्थियों की संख्या उनकी आबादी के अनुपात में काफी कम है।"[1] शिक्षा और

आर्थिक स्थिति दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती है। आर्थिक संकट व्यक्ति को अच्छी शिक्षा लेने में व्यवधान पैदा करता है और शिक्षा के अभाव में व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत भी नहीं कर पाता है। वर्तमान समय में इन्हीं संकटों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने शिक्षा को सबके लिए मुफ्त कर दिया है। न केवल शिक्षा बल्कि उसके साथ ही उसके खाने-पीने का भी बंदोबस्त कर दिया गया है ताकि किसी भी तरह बच्चे शिक्षित हो सकें। इसके साथ ही सर्वशिक्षा अभियान के तहत किसी बच्चे को अनुतीर्ण न किया जाए जिससे स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की संख्या में कमी आ सके। यह स्थिति तत्कालीन समय में नहीं थी। मुस्लिम समाज के गरीब बच्चे बहुत कम स्कूल में नामांकन होते थे। भारत सरकार द्वारा गठित कमिटी गोपाल कृष्ण कमिटी ने सन् 1984 में एक रिपोर्ट पेश की थी जिसमें "मुस्लिम बच्चों की प्राथमिक के स्तर पर नामांकन की दर 12.39 प्रतिशत थी, जबकि बाल-जनसंख्या 16.81 प्रतिशत थी। अनुसूचित जातियों में ये संख्या 12.50 प्रतिशत थी जबकि बाल-जनसंख्या 20 प्रतिशत थी। माध्यमिक स्तर पर कक्षा 1 में भर्ती हुए 100 मुसलमान छात्रों में से 35 कक्षा 5 तक पहुँचते थे, यों छंट जाने वालों की दर 65 प्रतिशत थी।... बारहवीं कक्षा में पंजीकृत छात्रों में परीक्षा में बैठने वाले मुसलमान छात्र 2.49 प्रतिशत थे, लेकिन परीक्षा-फल औसत से बहुत कम था। अनुसूचित जाति के छात्रों का अनुपात काफी बेहतर 6.75 प्रतिशत था। ग्रेजुएट स्तर पर परीक्षा में बैठने वाले मुस्लिम विद्यार्थी कुल संख्या के 6.21 प्रतिशत थे। पोस्ट ग्रेजुएट स्तर पर अंतिम परीक्षा में बैठने वाले मुस्लिम छात्रों की दर 9.11 प्रतिशत थी।...एम. बी. बी. एस और व्यवसायिक पाठ्यक्रमों में (बी. ई. में 3.4 प्रतिशत, एल. एल. बी में 5.36 प्रतिशत) यह प्रतिशत और भी कम था। 1982 की सिविल सर्विस परीक्षाओं में सफल 963 उम्मीदवारों में केवल 19 मुसलमान थे।"[2] शिक्षा के अभाव में अशिक्षित महिलायें बेरोजगार रह जाती हैं। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति इतनी ख़राब है कि वह रोजगार के नाम पर मजदूरी तक ही सीमित रह जाती हैं। शिक्षा के अभाव में इन्हें सम्मान जनक

रोजगार नहीं मिल पाता है। इसका एक कारण राजनीति में मुस्लिम महिलाओं की भागीदारी कम होना भी है।

राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' में एक ऐसे गाँव का चित्रण हुआ है जिसमें अधिकांशतः मध्यवर्गीय सय्यद परिवार हैं जो जमींदार भी है। आजादी के पहले तक ये लोग अपनी जमींदारी का बहुत लाभ उठाए थे। ऊपर से ये सैयद भी थे जिसके कारण इनकी ओहदा अन्य सामान्य मुस्लिमों से ऊपर थी। इनके यहाँ जमीन अधिक थी जिसके कारण इनका जीवन आराम में गुजर रहा था। इस समय किसानों की दशा दयनीय थी, वे मात्र दास की भूमिका में थे। राकेश नारायण द्विवेदी जी जमींदारों एवं किसानों के परस्पर संबंध को लिखते हैं कि "स्वतंत्रता पूर्व जब जमींदारी उन्मूलन नहीं हुआ था, तब भारत में कृषकों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। जमींदार ही गाँव के आर्थिक जीवन के नियंता होते थे। जमींदार मालिक होता था और कृषक उसके नौकर। जमींदार कृषकों तथा निम्न जाति के लोगों को काश्त के लिए जमीन देकर अपने लिए मनमाने ढंग से लगान तथा बेगार प्राप्त करता था।"[3] आजादी पूर्व जमींदारों का आतंक अधिक बढ़ा हुआ था जिसके कारण समाज में अनेक सामाजिक और आर्थिक विसंगतियाँ व्याप्त थी। किसान वर्ग इनके अत्याचार सह रहे थे। राही ने इसी कारण अपने उपन्यास 'आधा गाँव' में ऐसे पात्रों का जिक्र किया है जो जमींदारों पर आश्रित था और मौका बेमौका उनके अत्याचारों का शिकार हुआ करता था। राही एक संवेदनशील मार्क्सवादी लेखक थे। समाज में फैली विसंगतियों का वे खुलकर विरोध करते थे। उन्होंने उपन्यास में कई जगह जमींदारों द्वारा किसानों पर हो रहे अत्याचार को दिखाया है- "सामने ही एक तंदरुस्त दमकता हुआ नौजवान मुर्गा बना हुआ था। उसकी पीठ पर ईंटों का एक मीनार हटाया गया तो कई मिनट तक वह खड़ा न हो सका। वह खड़ा होने के बाद भी अपनी पीठ सहलाता रहा"[4] इस उद्धरण से पता चलता है कि जमींदार किसी आसामी को अपने प्रति सम्मान न मिलने के कारण सजा दे रहे हैं। शोषक वर्ग गाँव के किसानों का शोषण करते हुए नज़र आता है। किसानों की आर्थिक स्थिति ख़राब होने के

कारण वे जमींदारों के क्रूर व्यवहार के अभ्यस्त हो चुके थे। जमींदार मनमाने ढंग से लगान वसूल करते थे। राही इस यथार्थ को अशरफुल्लाह खां के माध्यम से दिखाते हैं कि वह अपने किसान के साथ किस प्रकार का व्यवहार करता है "साले, अगर परसों तक लगान और क़र्ज़ माय सूद के न आ गया तो ढोर-डंगर सब नीलाम कारवा दूंगा और अपने इन लाट साहब को भी ले जाना और इन्हें बतला कि जमींदारों से कैसे बात-चीत की जाती है।"[5] लेकिन आजादी के बाद जमींदारी ख़तम कर दी गयी जिसके कारण ये जमींदार टूट गये। इसी वजह से सय्यदों की बीबियों के सब जेवर भी बिक गए। फुस्सू मियाँ को जूते की दुकान खोलनी पड़ी। इनकी आर्थिक स्थिति खराब होने के बाद इनके जीवन में काफी बदलाव आ गए, लेकिन ये परिवार अपने अतीत से चिपके हुए नज़र आते हैं। आर्थिक संकट के बावजूद भी अपने मान-सम्मान को तनिक भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता है। इसीलिए जमींदारी ख़तम होने के बाद गाँव में दूसरा काम करने से अच्छा कुछ लोग पाकिस्तान चले गये ताकि वहाँ वो कुछ भी काम करेगा तो देखने वाला कोई नहीं होगा। इनकी बीबियाँ भी किसी मायने में अपनी वर्तमान स्थिति से समझौता करने को तैयार नहीं थी। अपनी पुरानी चीजों से सिमटी पड़ी थी। भले ही घर में कुछ खाने को न हो लेकिन कमर में खाली बक्स की चाबियां बांधे फिरती है। "सबका यही हाल था हर घर में अंबारों बक्स थे। हर जनाने कबरबंद में कुंजियों का भारी गुच्छा था, पर बक्स खाली थे। तालों की कोई ज़रूरत नहीं थी, पर औरतें कुंजियों के गुच्छों से चिमटी हुई थीं। क्योंकि वही उनकी खुशहाली के ज़माने की यादगार रह गये थे।"[6]

राही दिखाते हैं कि आजादी मिलने एवं पाकिस्तान निर्माण के बाद अनेकों कारणों से गंगौली गाँव की आर्थिक स्थिति खाराब हो गयी थी। गाँव के लगभग मियाँ अब उधारी पर चलने लगे थे। यह स्थिति समूचे भारत की हो गयी थी। राही जी 'आधा गाँव' के माध्यम से पूरे देश की आर्थिक संकट को सामने लाने का प्रयास किया है। अब्बू मियाँ भी फुस्सू की दुकान से कई बार जूते ख़रीदे लेकिन पैसा नहीं दे पाते थे। फुस्सू भी क्या करते उसे अपने गाँव की हालत

भी पता थी। हम्माद मियाँ और जवाद मियाँ के अलावा सभी के यहाँ फुस्सू का उधार था लेकिन सभी देने में असमर्थता प्रकट करता है जिससे गाँव की आर्थिक संकट का पता चलता है। राही मासूम रज़ा इस आर्थिक दुरावस्था को इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "हम्माद मियाँ और जवाद मियाँ के अलावा तक़रीबन तमाम मियाँ लोग उनके मकरूज़ थे और वह किसी से तकाज़ा नहीं कर सकते थे। अब वह उन हुसैन अली मियाँ से तकाजा क्या करते जो अपने मकान की परदे की दीवार की मरम्मत न करा सकते हों!"[7]

राही के इस उपन्यास में अशिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम है। राही दिखाते हैं कि गंगौली के अधिकांश लोग अलीगढ़ से शिक्षा ग्रहण किये हुए है। जिसमें सरवरी, अब्बास, सईदा का नाम लिया जा सकता है। गाँव से भी कई लोग शिक्षित थे जो नौहा मजलिस आदि का अच्छा पाठ भी किया करते हैं। मुहम्मद सिद्दकी भी कलकत्ता में पढ़ रहा है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि गंगौली के लगभग लोग पढ़े लिखे हैं। "हकीम अली कबीर का लड़का डिप्टी सईदुलहसन जैद़ी हो चुका है। मूनिस की अक्ल के चर्चे हैं। शब्बर मियाँ और बशीर मियाँ और वजीर मियाँ और अग्गू मियाँ ने वकालत की और रूपया कमाया तन्नू मेजर तनवीरुलहसन हो गया है।"[8] कुछेक ऐसे भी हैं जिन्हें अशिक्षित रह जाना पड़ा, जिसमें से मिगदाद का जिक्र उपन्यास में आया है। मिगदाद को उसके पिता हम्माद पढ़ने नहीं देते हैं। यह सोचकर कि यदि मिगदाद पढ़ लेगा तो खेती करने में दिक्कत होगी "हम्माद मियाँ ने मिगदाद को तालीम नहीं दिलवायी थी। उनका कहना था कि मिगदाद ने पढ़-लिख लिया, तो खेती कौन करेगा। मिगदाद ने भी इसका बुरा नहीं माना। वह बैलों की देख-भाल और भैंस दुहने और खेत-खलिहान की देख रेख में लगा रहता था"[9] मिगदाद ने भी इस बात का बुरा नहीं माना क्योंकि किसानी से उसे भी प्यार था और वह ताउम्र उससे जुड़ा रहा। हम्माद जैसे संकुचित मानसिकता के लोग आज भी भरे पड़े हैं जो निजी स्वार्थ के कारण मिगदाद जैसे बच्चे के भविष्य के साथ खिलवाड़ करते हैं। राही ने हम्माद के माध्यम से ऐसी मानसिकता का चित्रण कर मिगदाद जैसे बच्चे को राह भटकते और

उसे कम उम्र में पारिवारिक बोझ उठाने को विवश होते हुए दिखाया है, जिससे मुस्लिम समाज की थोथी मानसिकता का पता चलता है। राही जी यहाँ शिक्षा के अभाव में जीवन में होने वाले नकारात्मक बदलाव की तरफ भी संकेत करते हैं।

पाकिस्तान निर्माण के बाद आर्थिक संकट ने लोगों को गाँव से बाहर धकेला। परिणामस्वरूप सद्दन जैसे लोग अपनी पत्नी और पिता को छोड़कर पाकिस्तान चले गए और वहाँ दूसरी शादी भी कर ली। हिंदुस्तान में रह गए उसके पिता हकीम पाई-पाई के मोहताज़ हो गये। इतने बड़े परिवार का बोझ उठाना उसके लिए मुश्किल था फिर भी वह कमर कसे रहें। राही जी स्वातंत्र्योत्तर मुस्लिम समाज के विघटन एवं चरमराती आर्थिक परिवेश को बखूबी दिखाया है। विशेषकर विभाजन ने लोगों को एकदम से लाचार और बौना बना दिया है। वे लोग अपने पेट के लिए अब चिंतित दिखाई देने लगे थे जो अब तक इन चीजों की ज्यादा परवाह नहीं किया करते थे। हाकिम भी लोगों का इलाज केवल पैसों के लिए नहीं बल्कि सामाजिक मान-सम्मान के वास्ते करता था। लेकिन वह भी आजादी के बाद कम्मो छीन लेता है। बेटा पाकिस्तान चला जाता है। ऐसी स्थिति में वह हर लिहाज से कमजोर हो जाता है। वह अपनी इस विडंबना को इस प्रकार कहता है "हमरे पास रह का गवा है? एक ठो बेवा बेटी, तीन ठो यतीम नवासे-नवासी, एक ठो बहू और उहो बेवा ही है! तीन ठो पोते-पोती; उहो को यतीमे समझो। कल एक ठो खजाना और मिल गया! सुखरमवा नालिश कर दिहिस है। अब हम ओका कर्ज़ा कहाँ से दें? दो-चार ठो मरीज़ आते रहे, तो कम्मो डागदरी शुरू कर दीहन। हमारी समझ में तो भाई कुछ आता ना। नौ परानी का पेट कैसे चलायें?"[10]

राही मासूम राजा ने कई जगह यह इंगित करने की कोशिश की है कि भले ही लड़के पढ़ने अलीगढ़ जा सकते थे लेकिन लड़कियों के लिए यह आसान नहीं था। सईदा बहुत कष्टों के बीच अलीगढ़ पढ़ने जाती है। उसकी माँ को इसके लिए हमेशा दूसरी औरतों से ताने सुनने को मिलता है। इससे गाँव में अशिक्षित महिलाओं का होने का बोध होता है। जो स्वयं उच्च शिक्षा से

वंचित है और दूसरों को भी इससे वंचित ही रखना चाहती है। इसके पीछे वे तर्क देती हैं कि जो लड़की बाहर पढ़ती है वह बिगड़ जाती है। राही ने यहाँ दिखाया है कि पढ़ने की जिजीविषा यदि हो तो तमाम बाधाओं के बाद भी लड़कियाँ पढ़ सकती हैं। भले ही इसके लिए सईदा की माँ को भला बुरा सुनना पड़ता है। लोगों की बातें सुनकर वो हमेशा कहती है "ई गाँववाले ओकी पढ़ाई-लिखायी से जलते हैं बूबू। सभे को ई जलन है कि कोई की लड़की त ना पढिस ता सईदा कईसे पढ़ लीहिन।"[11] सईदा का पढ़ना-लिखना आर्थिक संकट के दिनों में उसके परिवार के काम आता है। जब उसका परिवार कठिन स्थितियों में होता है तब सईदा के पैसों से ही घर चलता है। ऐसे में लोगों को एहसास होता है कि काश सईदा की तरह उनकी बेटियाँ भी पढ़ी-लिखी होती तो हर प्रकार से मदद मिलती और शादी करने में दिक्कत नहीं होती "सईदा माशाल्लाह से पढ़ी-लिखी है। तीन सौ कमा रही। मुश्किल तो हमरी जाहिल बिटियन की है।"[12] सईदा के माध्यम से राही ने लोगों की स्त्री-शिक्षा के प्रति बदलती मानसिकता का यहाँ चित्रण करके एक नई सोच का प्रसार किया है जो आर्थिक संकट का प्रतिपक्ष रूप है। गाँव में अशिक्षित लड़कियाँ बहुत हैं जिसके कारण पढ़े-लिखे लड़के उनसे शादी करना नहीं चाहते हैं। यह सच है कि शिक्षित लड़के शिक्षित लड़कियों को ही शादी के लिए पसंद करते हैं। ठीक उसी प्रकार शिक्षित लड़कियाँ भी अपने अनुकूल लड़के पसंद करती हैं। यही कारण है कि जब तन्नु गाँव में मेजर बनकर लौटता है तब उसकी शादी सल्लो से तय की जाती है लेकिन वह उससे शादी नहीं करना चाहता है। वह पढ़ी-लिखी सईदा से विवाह करना चाहता है। इसीलिए गाँव में यह बात फ़ैल जाती है कि "तन्नू माशाल्लाह से दुनिया देख के अइहें। अब ऊ कउनो निपट देहातिन से का बियाह करिहें भला।"[13] यह बात अलग है कि तन्नु अपने मरहूम पिता की आखिरी ख्वाहिश पूरी करने हेतु एवं अधूरे प्रेम की चोट के खातिर सल्लो से शादी कर लेता है। इसी प्रकार सईदा भी तन्नु से मन ही मन प्रेम करती है और उसी से शादी करना चाहती है लेकिन उससे शादी न होने के कारण किसी भी अनपढ़ व ऐरे-गैर से शादी नहीं करती है।

बदीउज़्ज़माँ के उपन्यास 'छाको की वापसी' के केंद्र में विभाजन की त्रासदी के साथ-साथ मुस्लिम समाज की आर्थिक एवं शैक्षिक विसंगतियाँ भी परिलक्षित हुई हैं। इनके उपन्यास में मुस्लिम समाज के उस वर्ग का चित्रण हुआ है जो हाशिये का शिकार है। आजादी के बाद इस समाज की स्थिति पहले से और ज्यादा ख़राब हो गयी। वतनपरस्ती के सवालों के चंगुल में फंसे ये वर्ग रोजगार के अभाव में क्षत-विक्षत हो गए। इनके यहाँ शिक्षा की कमी तो थी ही लेकिन उसमें से भी कुछ ऐसे शिक्षित लोग थे जो अनपढ़ से भी बेकार थे। उनकी स्थिति समाज में दयनीय और सोचनीय थी और यह समस्या आज भी मौजूद है। उपन्यास में मुस्लिम समाज में फैले इस समस्या को शब्दबद्ध करते हुए एम.फिरोज खान लिखते हैं "भारतीय मुस्लिम समाज की एक बड़ी आबादी आज भी गरीबी में अपना जीवन व्यतीत कर रही है। एक पढ़ा-लिखा आदमी गरीबी में जी रहा है तो आप सोच सकते हैं कि जो पढ़े-लिखे नहीं हैं और साधनहीन मुसलमान हैं उनकी क्या दशा होगी। इस उपन्यास के पात्र गाँधी भाई एक पढ़े-लिखे और जुझारू व्यक्ति हैं परन्तु आजीविका का साधन न होने से वे और उनका परिवार भुखमरी की कगार पर पहुँच गया था। बीवी और बच्चों के पास पहनने के लिए कपड़े भी नहीं थे। पूरे परिवार में 12-13 लोग थे। इतने बड़े परिवार में केवल उनके पिता की छोटी-सी आमदनी का सहारा था। अगर यह भी आधार टूट जाए तो परिवार का पतन होने लगता है। गाँधी भाई के पिता के इंतेकाल के बाद घर की आर्थिक स्थिति बेहद ख़राब हो गयी थी।"[14] वर्तमान समय में पढ़े-लिखों की जो आर्थिक समस्या है उसे लेखक उस समय लिख रहे थे ये लेखक की दूरदृष्टि को दर्शाता है। आज भी मुस्लिम समाज में शिक्षित व्यक्तियों का अनुपात दूसरे धर्म के व्यक्ति से कम है। यही कारण है कि आज भी ये समाज शिक्षा और अर्थ जगत के सबसे निचले पायदान पर खड़े हैं। गाँधी भाई एक पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि उनके घर में ईद पर भी मातम छाई रहती है। प्रेमचंद ने भी आर्थिक समस्या पर अपनी कहानी 'ईदगाह' में इस दृश्य का चित्रण किया है जिसमें यह सूचित किया गया है कि ईद गरीबों के लिए एक दुखद दिन ही है।

लेखक ने गांधी भाई की परिस्थिति को भी कुछ इसी प्रकार दिखाकर उस समाज की हालत को सामने लाने की कोशिश की है जो बहुत पीछे पड़ा हुआ है - "ईद का दिन था। नमाज पढ़ कर घर लौटा तो हबीब भाई ने कहा-"चलो गाँधी भाई के यहाँ से हो लें।" वहाँ पहुँचे तो लगा कि ईद इस घर में दाखिल ही नहीं हुई हैं। गाँधी भाई की अम्मा रोज़ की तरह ही चारपाई पर लेटी जोर-जोर से खाँस रही थीं। भाभी ने भी कपड़े नहीं बदले थे और कई दिनों के मैले कपड़े पहने और मुँह फुलाए चारपाई पर बैठी थीं। बच्चे नहाए-धोए भी नहीं थे और उदास चेहरे लिये घर में इधर-उधर घूम रहे थे।"[15] गाँधी भाई पढ़े-लिखे बेरोजगार हैं। वहीं दूसरी ओर छाको अनपढ़ है जिसे रोजगार की तलाश में देश विदेश का चक्कर लगाना पड़ता है। परिणामस्वरूप घर, परिवार और वतन से भी दूर हो जाना पड़ता है। शिक्षा के अभाव में गाँव के अधिकांश लोग शहर की तरफ काम की तलाश में भागते हैं। उचित पगार न मिलने के कारण ये अपनी तमाम उम्र शहर दर शहर भटकते हुए अपने शरीर को थका देते हैं। उपन्यास के पात्र छाको उसी के कारण भटकता है। उसकी बेबसी उसके ख़त में दिखता है- "बाबा को अब्दुरशकूर की तरफ से सलाम। बाबा मेरी बात मानते तो काहे को परदेश का मुंह देखना पड़ता। बाबा को कहिए हमारी बात मान ले। गोदाम रोड पर कोई अच्छा टेलरिंग शॉप नहीं है। अच्छा गाहक वहाँ कैसे जाएगा। बाबा को अपना नफ़ा-नुकसान का कुछ ख्याल नहीं है। अच्छी जगह दुकान खोलने से चार पैसे ज्यादा मिलेगा। लेकिन बाबा को यह सब बात कहाँ पसंद है।"[16] उपन्यास के आरंभ में ही एक ऐसे मुस्लिम समाज की झांकी प्रस्तुत होती है जहाँ पढ़े-लिखे लोगों की बेहद कमी नज़र आती है। उपन्यास का कथावाचक समूचे गाँव की चिट्ठियां पढ़ता-लिखता है जिससे साफ हो जाता है कि उस गाँव में शिक्षा की कितनी कमी है। राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' में मध्यवर्ग का चित्रण अधिक हुआ है। उनके अधिकांश पात्र पढ़े-लिखे हैं परन्तु बदीउज़्ज़माँ के 'छाको की वापसी' में छाको जैसे आम मुसलमान की व्यथा को उजागर किया गया है। छाको के गाँव में अशिक्षा की समस्या अधिक होने के कारण ही जनवा छाको का ख़त कथावाचक से पढ़ाती है। कथावाचक और

छाको एक-दूसरे के मित्र हैं, दोनों में गहरा लगाव है। कथावाचक छाको की स्थिति देखकर संवेदनशील हो जाता है और कहता है - "वह बे पढ़ा लिखा नीची जात का मामूली दरज़ी है। एक अदना आदमी जिसकी मेरे सामने कोई औकात नहीं है। वह जहाँ कहीं भी जाए, मुझे इससे क्या मतलब? फिर भी मन में एक अजीब सी बेचैनी फैलती जा रही है जिसे शब्दों में व्यक्त कर पाना बहुत कठीन है।"[17]

गाँव के अशिक्षित व्यक्तियों के विषय में हबीब का विचार उल्लेखनीय है। वह विभाजन के बाद नए मुल्क पाकिस्तान में जाना चाहता है। वह समझता है कि पाकिस्तान एक अच्छा देश बनेगा जिसे तरक्की पाने के लिए पढ़े-लिखे समृद्ध लोगों की आवश्यकता पड़ेगी इसीलिए वह पाकिस्तान में ऐसे लोगों को नहीं जाने देना चाहते हैं जो शिक्षित न हो, समृद्ध न हो। छाको जैसे अनेकों लोग गाँव में अशिक्षित थे जिनसे हबीब भाई नफरत करते थे। उन्हें किसी क़ीमत पर पाकिस्तान नहीं जाने देना चाहते थे। बदीउज़्ज़माँ ने ऐसे लोगों के चरित्र का उद्घाटन कर तत्कालीन समय के तथाकथित बुद्धिजीवी मुसलमानों की मनोदशा का चित्रण किया है। "उनका ख्याल था कि जाहिल और गँवार मुसलमान पाकिस्तान न ही जाएँ तो अच्छा है। पढ़े-लिखे मुसलमानों को ही वहाँ जाना चाहिए। ये लोग पाकिस्तान के लिए मुफ़ीद होंगे और इनकों भी पाकिस्तान से फायदा पहुँचेगा। छाको जैसे लोग वहाँ पहुँचने लगे तो मुसलमानों का यह नया मुल्क क्या ख़ाक तरक्की करेगा! इस तरह के लोग हिंदुस्तान में ही रहें तो अच्छा है।"[18] हबीब के विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँव में शिक्षा की कितनी कमी है साथ ही शिक्षित व्यक्ति ही देश को उन्नति के राह पर ले जा सकता है। क्योंकि शिक्षा से ही आधुनिक युग में अर्थ और समर्थ संभव है।

लेखक ने आजादी के बाद अर्थ की समस्या को गंभीर रूप में लिया है। यह सच भी है कि स्वतंत्रता के बाद अचानक से लोगों का मोह भंग हुआ था साथ में जीवन में कई तब्दीलियाँ भी हुई थीं। जमींदारों की जमीन चली गयी थीं। आम लोग रोजगार के अभाव में त्रस्त थे। जो भी घर

के गहने थे उसे बेचकर लोग अपना घर चला रहा था। मुस्लिम समाज में व्याप्त इस समस्या को बदीउज़्ज़माँ ने दिखाया है "मैं अम्मा के कानों की बालियाँ लेकर सुनार टोली में पहुँचा था। रास्ते में बार-बार यही शक होता था कि कोई मुझे देख रहा है और उसकी निगाहें मेरी जेब में रखी हुई बालियाँ तक पहुँच रही है। सुनार की दुकान में घुसते हुए मुझे खौफ सा महसूस हो रहा था। जिल्लत और अपमान का एहसास मुझ पर इस तरह हावी हो गया था कि सड़क पर चलते हुए तमाम लोग मुझे व्यंग-भरे कहकहे लगाते महसूस हो रहे थे। लगता था, मेरी जेब में सोने की दो बालियाँ नहीं है बल्कि मेरे घर और खानदान की इज्जत और मर्यादा है जिन्हें मैं खुले बाज़ार में बेचने के लिए निकल पड़ा हूँ।"[19] उपर्युक्त उद्धरण से तत्कालीन मुस्लिम समाज की आर्थिक समस्या को देखा जा सकता है कि आजादी प्राप्त होते ही लोगों की जिंदगियाँ किस कदर बदल जाती है। रोजगार के अभाव में जीवन जीने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है।

'काला जल' उपन्यास में भी शानी ने तत्कालीन मुस्लिम समाज की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक समस्या को अभिव्यक्त किया है। यह सर्वविदित है कि मुस्लिम समाज की जिन्दगी गरीबी और अशिक्षा के गर्त में पड़ा हुआ है। इस समाज के वे लोग जो खासकर मजदूरी करने वाले, रिक्शा, ठेला, ट्रक, ऑटो चलाने वाले, नाई, बढ़ई इत्यादि काम करते हैं। उनका जीवन आज भी बेहद दयनीय है। 'काला जल' में भी ऐसे समाज का चित्रण हुआ है जो गरीबी से जूझ रहा है जो छोटी-छोटी जरूरतों को पूरी करने में दिन-रात संघर्षरत है। शिक्षा लेने के बावजूद भी एक अच्छी नौकरी की तलाश में भटकना पड़ रहा है।

'काला जल' उपन्यास जिस समय को अपने कथा में समेटा है वह राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से संघर्ष का दौर रहा है। लेकिन मुस्लिम समाज आज भी इन समस्याओं से घिरे एवं जूझते हुए नज़र आते हैं। इस लिहाज से यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। 'काला जल' में जिस भौगोलिक अंचल का जिक्र हुआ है, वह है बस्तर का जगदलपुर जो सालवनों के घने जंगल से घिरे सिवार, चीला, लद्दी से भरा पड़ा है। जहाँ से गन्दी कीचड़ से मिली

जुली दुर्गन्ध आती है। यहाँ के जीवन में भी इतनी जटिलता, गरीबी और अशिक्षा व्याप्त है कि जिससे अधिकांश परिवार परेशान ही नज़र आते हैं। यहाँ रहने वाले लोगों में सुनार, बढ़ई, ड्राईवर, कण्डक्टर, मजदुर, चपरासी और धोबी की संख्या अधिक हैं। 'काला जल' उपन्यास में भले ही अलग-अलग धर्म के लोग हैं लेकिन इनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति लगभग समान है। दरअसल यह अंचल मुख्य धारा से कटा हुआ है इसीलिए भी इस अंचल की विपन्नता अन्य भौगोलिक क्षेत्रों से अधिक है। शानी ने इस अंचल की व्यख्या करते हुए लिखा भी है कि- "चारों ओर फैले सागौन-शाल के घने जंगलों, दुर्गम पहाड़ियों, गहरी घाटियों, बाढ़ से बिफरते असंख्य नदी-नालों और लाख-लाख आदिवासियों वाला बस्तर तथा उसमें तिल के अंबार में चावल के एक दाने की तरह छोटा सा कस्बा-जगदलपुर। अंग्रेजी शासन और रियासती दौर में भी वह द्वीप से अधिक कुछ नहीं रहा शासक आए और गए लेकिन बस्तर में कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जगदलपुर से बाहरी दुनिया की भौगोलिक दूरी सौ-डेढ़ सौ मील से कभी नहीं घटी।"[20]

'काला जल' के इस जगदलपुर में बब्बन का परिवार भी रहता है। बब्बन के पिता नौकरी करते हैं इसके बावजूद उनकी आर्थिक स्थिति ख़राब हो जाती है। इस आर्थिक दुरावस्था के जिम्मेदार बब्बन के अब्बा है जो अपनी एक पत्नी होने के बावजूद भी एक दूसरी औरत से संबंध रखे हुए हैं। परिणामस्वरूप अपने परिवार की तरफ ध्यान नहीं दे पाते हैं। एक समय अपने इसी कुकर्म के कारण उन्हें अपना घर भी गवाना पड़ता है। घर की स्थिति यह हो जाती है कि "एक खुर्री सिलंगी खाट पर अम्मी औंधे मुँह लेटी थीं...बड़ी मुश्किलों के बाद मैंने उन्हें जगाया था। बेहद अनमनाया, सुजा और रुखा चेहरा खोल कर वह थोड़ी देर मेरी ओर घूरती रहीं, फिर लेटे ही झल्ला कर बोलीं, क्या चाहिए खाना ...वह तो नहीं, अब मेरा गोश्त रह गया है खाने के लिए, तुम सबलोग मिलकर उसे भी चीथ डालो...।"[21] गरीबी का आलम यह हो जाता है कि बब्बन अन्दर ही अन्दर घुटने लगता है उसकी मनन स्थिति किसी जड़ व्यक्ति की तरह हो जाती है। उसके हृदय में हीनता का बोध पैदा हो जाता है। व्यक्ति के अन्दर जब हीन भावना प्रवेश कर

जाती है तब वह हमेशा दूसरों को देखकर जी को जलाता रहता है। बब्बन की स्थिति भी ऐसी ही हो जाती है। जब वह भी मोहसिन के घर जाता है उसका पहनावा देखकर कुढ़ता है तथा सोचता है कि - "मोहिसन का पहनावा और रखरखाव एक हद तक बड़े घर के बच्चों के शौक की हद तक था, जबकि उसकी अपेक्षा मैं सस्ते कपड़े पहनता था। इसका एहसास फूफी के घर आने के पहले कभी नहीं हुआ। यह उन्हीं के घर की बात थी कि जब-जब फूफी हम दोनों के बीच से उठकर चल देतीं, मेरे लिए एक विपत्ति सी आ जाती। लगता कि सल्लों आपा मेरे घटिया, मैले और कई बार फटे कपड़ों को देखकर मुस्कुरा रही हैं।"[22] गरीबी की समस्या केवल बब्बन की ही नहीं थी, उसकी फूफी भी इस समस्या से गुजरती है। जब तक मोहसिन के अब्बा कार्यरत होते हैं तब तक तो उनके घर की स्थिति अच्छी रहती है परन्तु उनके इंतकाल के बाद फूफी के घर की हालत भी गंभीर हो जाती है। बब्बन जब फातिहा पढ़ने बैठता है तब वह महसूस करता है कि फूफी कितनी तकलीफ से सारी चीजों का इन्तज़ाम की है।

बब्बन के घर की आर्थिक स्थिति इतनी ख़राब है कि मामूली सी चाय पीने-पिलाने की बात पर भी नोक-झोक होती रहती है। गरीब परिवार की यह कितनी बड़ी विडंबना है। बब्बन के घर का राशन वक्त से पहले ख़तम हो जाने पर उसके अब्बा झल्लाते रहते हैं। किसी को चाय पिला दो उस पर भी बहस छिड़ जाती है। इन सब के बीच भी जब अम्मा का नाम आता है कि उनके भी अपने-पराये चाय पीने आते रहते हैं तो वह बिफर उठती है कहती है- "मेरे कितने अपने-बिराने आते हैं? किसे किसे मैं चाय पिलाती हूँ, ज़रा बता तो? हाँ, एक कब्र में पांव लटकाये मामू आते हैं; लेकिन वह भी कितने दिनों के लिए?"[23]

मुस्लिम समाज में अशिक्षा की वजह से गरीबी अधिक है। और गरीबी के कारण ही अधिकांशतः लोग पढ़ नहीं पाते हैं। शानी स्वयं एक ऐसी पिछड़ी जगह से थे जहाँ शिक्षा सबको उपलब्ध नहीं था। उन्होंने उस पीड़ा को अपने उपन्यास 'काला जल' में अभिव्यक्त की है। छोटी फूफी के पति के स्वर्गवास के बाद उनकी बेटी रुबीना पारिवारिक स्थिति ख़राब होने के कारण

नहीं पढ़ पाती है। शिक्षा के अभाव में उसके व्यक्तित्व का सही विकास नहीं हो पता है जिसके कारण उसे गाँव में बेढंगा कहा जाता है "उसके बारे में अम्मी को सारी शिकायतें याद हो आयीं कि लड़की ताड़ जैसी लम्बी हो गयी है, लेकिन सलीका ज़रा भी नहीं। पढ़ाई-लिखाई तो पहले ही छोड़ बैठी है, अब सारा बेढंगापन लिए घर में माँ भाबी को परेशान करती रहती है। छोटी फूफी से एक तो तकदीर यूँ ही मुँह फेरे हुए है, जाने इसके नसीब क्या होंगे।"[24] मुस्लिम समाज में शिक्षा की कमी सबसे अधिक स्त्री में ही देखी जाती है। पुरुष की तुलना में स्त्रियाँ अधिक अशिक्षित रह जाती हैं। 'काला जल' में भी लेखक इस बात की ओर ध्यान देते हुए दिखाते हैं कि उपन्यास में बब्बन, रोशन, मोहसिन सभी शिक्षित हैं लेकिन महिला में किसी का भी जिक्र नहीं आता है कि वह वह कहीं शिक्षा ग्रहण कर रही है अथवा कहीं नौकरी कर रही है।

अशिक्षा के कारण ही मुस्लिम समाज में जनसंख्या वृद्धि अधिक होती है। उपन्यास में फूफी के आठ बच्चें हैं तो वहीं राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में भी यह देखने को मिलता है जहाँ शिक्षा के अभाव में स्त्रियाँ अधिक बच्चों को जन्म देती हैं। परिणामस्वरूप अनेक दिकतों का सामना करना पड़ता है।

शिक्षा के अभाव में ही मुस्लिम समाज में अन्धविश्वास अधिक व्याप्त है। आज भी ग्रामीण इलाके में मुस्लिम महिलायें तंत्र-मन्त्र के चक्कर में फंसी हुई हैं। 'काला जल' उपन्यास में भी बब्बन की माँ रहमत चाचा के यहाँ बराबर जाती रहती है जिससे उसके पति का किसी और से संबंध न रह सके। रहमत चाचा कुछ तंत्र-मन्त्र करके एक पुड़िया बब्बन की माँ के हाथ में देते हुए कहते हैं- "अल्लाह ने चाहा तो सब ठीक हो जायेगा। इस बार पूरी सहानुभूति के साथ अम्मी की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, इनमें से एक तुम खाओ और एक पुड़िया किसी तरह बब्बन के अब्बा को खिलाओ...दुआ मैंने कर दी है।"[25] इस तरह पूरे उपन्यास में कई जगह अन्धविश्वास भरा पड़ा है। मुस्लिम समाज में व्याप्त अन्धविश्वास की पड़ताल करते हुए सुनील यादव कहते हैं कि- "इस्लाम धर्म जब हिन्दुओं के संपर्क में आया तो उसके अनुयायियों ने बहुत चीजों को ग्रहण

करने के साथ ही हिन्दुओं के अन्धविश्वास को भी ग्रहण कर लिया। मुस्लिम समाज आज अशिक्षा तथा गरीबी के कारणों से इन अन्धविश्वासों के गिरफ्त में है। पिड़ों, फकीरों, औलियों का वर्चस्व इस समाज में आज भी जड़ जमाए हुए है।"[26]

इब्राहीम शरीफ़ के उपन्यास 'अँधेरे के साथ' में एक ऐसे मुस्लिम परिवार की कथा कही गयी है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़े हैं। घर की स्थिति बहुत ही दयनीय दिखाई गयी है जिसमें पैसों की तंगी की वजह से बूढ़े माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। जीवन में शिक्षा और मजबूत आर्थिक स्थिति का होना बहुत मायने रखता है। मुस्लिम समाज में इसकी निहायत कमी नज़र आती है। इब्राहीम शरीफ़ ने इस समाज की उस पहलू को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है जो दुनिया के तमाम लोगों की पहली ज़रूरत है। वह है रोटी, इसके बाद आता है कपड़ा और मकान। भूख प्रत्येक इन्सान को लगती है और पेट भरने के लिए अन्न का होना आवश्यक है। भोजन के लिए रोजगार ज़रूरी है। परन्तु रोजगार की समस्या हमेशा से भारत की प्रमुख समस्या रही है। वर्तमान समय में भी रोजगार की तलाश में लोगों को दर-दर की ठोकरे खानी पड़ती है। उपन्यास का कथानायक अपने परिवार का एक मात्र ऐसा सदस्य है जो पूरे परिवार का भरण-पोषण करता है। परन्तु रोजगार के अभाव में एवं भ्रष्टाचार के कारण वह अपने परिवार के लिए दो वक्त का खाना तक उपलब्ध नहीं कर पाता है और इसी वजह से वह आत्महत्या भी करने की कोशिश करता है।

मुस्लिम समाज में फैली रोजगार की समस्या उस समाज की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है। आज के मुस्लिम युवा रोजगार के अभाव में ही अस्त-व्यस्त जीवन जीने को मजबूर हैं। ये समस्या केवल मुस्लिम समाज की ही नहीं है पूरे भारत की है। लेकिन इसका सबसे अधिक प्रभाव मुस्लिम समाज पर ही पड़ा है। 'अँधेरे के साथ' उपन्यास में रोजगार की समस्या को केंद्र में रखकर एक ऐसे युवक की आर्थिक विसंगतियों को हमारे सामने रखा जाता है जो सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों के कारण काम से वंचित रहना पड़ता है। गाँव में एक मंदिर की मरम्मत का काम

चल रहा होता है परन्तु गाँव के चेयरमेन उसे धर्म का हवाला देकर उसे उस काम से हटवा देता है। आज भी ऐसी मानसिकता वाले लोग समाज में उपस्थित हैं, जो धर्म के आधार पर काम में भी भेदभाव करते हैं। उपन्यास में लेखक ने इस मानसिकता को दिखाया है। कथानायक को मंदिर के काम से केवल इसलिए निकाल दिया जाता है क्योंकि वह हिन्दू नहीं है। "आज सुबह चेयरमेन साहब मेरे पास आये थे। कह रहे थे कि मैं तुम्हें काम से फ़ौरन हटा दूँ...वह कह रहे थे कि तुम मजहब के खिलाफ काम कर रहे हो"[27] किसी समाज के लिए यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है जहाँ कोई व्यक्ति भूखा मर रहा हो और दूसरी तरफ लोग धर्म का दुर्व्यवहार कर रहा हो। इब्राहीम शरीफ़ उपन्यास में धर्म के ऐसे ठेकेदारों से सवाल करते हुए नज़र आते हैं वे पूछते हैं कि "तो बताईए अब मुझे क्या करना चाहिए? अब मुझे क्या करना है ... चेयरमेन की इज्जत और उसके मजहब के लिए मैं अपनी माँ और बहन को भूखी मार दूं...खुद तड़प कर मर जाऊं? जो मुझे जिन्दा रहने की इजाजत नहीं देता उस मजहब का मैं क्या करूँ"[28] लेखक धर्म का महिमामंडन और उसके कट्टर व्यवहार का विरोध करते नज़र आते हैं। वे ऐसे धर्म में विश्वास करते हैं जिसमें कोई संकीर्णता न हो। जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार करें न कि धर्म के अनुसार। लेखक ने मनुष्य के जीवन को धर्म से ऊपर माना है। किसी व्यक्ति के लिए जीवन से ज्यादा महत्वपूर्ण धर्म नहीं हो सकता। और धर्म कभी इसकी इजाजत नहीं देता कि वह भूखा रह कर धर्म का पालन करें वे भी धर्म के ऐसे रूप को जो स्वार्थ के आधार पर गढ़ा जाए। लेखक इस बात को बड़ी तल्खी के साथ कहा है कि "मुझे मजहब से ज्यादा जिन्दगी ज़रूरी है...मेरी माँ और बहन की जिन्दगी...अपनी जिन्दगी"[29]

निम्नवर्गीय परिवार में आर्थिक दुरावस्था का कारण शिक्षा भी होती है। शिक्षा के अभाव में ही व्यक्ति कम पैसों में मजदूरी आदि काम करते हैं जिससे आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं हो पाती है। ऐसे में माता-पिता के बीमार होने पर घर का सारा बोझ उनकी संतान पर आ जाता है। कथा नायक शिक्षित ज़रूर है लेकिन अपने स्वाभिमान के कारण भ्रष्ट व्यवस्था में स्वयं को

अधिक समय के लिए नहीं रख पाता है और अपनी नौकरी गवानी पड़ती है। "मैंने एक दिन बड़ी विनम्रता से अफसर से प्रार्थना की थी कि मैं हर महीने अपनी तनख्वाह से दस रुपये कटवा नहीं सकता हूँ, मैंने यह भी बताया था कि मैं बहुत गरीब परिवार का हूँ और दस रुपये मेरे लिए बहुत मायना रखते हैं।"[30] रोजगार विहीन गरीब परिवार के एक एक दिन बहुत मुश्किल से गुजरता है। कथानायक इस बात को समझता है कि उसका परिवार गरीब है और जब उनका परिवार नौकरी छूटने की बात सुनेंगे तो परेशान हो जायेंगे। गरीबी चीज ही ऐसी होती है जो व्यक्ति को किसी भी क़ीमत पर कोई न कोई काम करते रहना पड़ता है चूँकि इनका काम सुनिश्चित नहीं होता है। जब कथा नायक की नौकरी छूटने की खबर घर में मालूम होती है तब उनके घर वालों पर मानों दुखों का कोई पहाड़ गिर पड़ता है। बकौल कथानायक- "मेरी नौकरी छुट गयी है यह बात सुनते ही पिताजी की खाँसी एकाएक बढ़ गई थी। माँ आँखें फाड़े खड़े रह गई थी। बहन के गालों पर चुपचाप आँसू ढुलकने लग गए थे।"[31] मुस्लिम समाज की आर्थिक स्थिति ख़राब होने के कारण ही बीमारी के साथ इनका संघर्ष चलता रहता है। इन गरीबों को उचित इलाज के अभाव में अपना प्राण गवाना पड़ता है। कथानायक के पिता की मृत्यु उचित इलाज के अभाव में होती है। पैसे न देने के कारण ही डॉक्टर इलाज के लिए नहीं आता है और उनका इंतकाल हो जाता है। लेखक ऐसे गरीब परिवार की यथार्थ स्थिति को सामने लाकर समृद्ध लोगों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है। वर्तमान समय में डॉक्टर जैसी पेशा को व्यवसाय का केंद्र बना दिया है। उपन्यास का डॉ भी ऐसा ही चरित्र का है- "मुझे पता था डाक्टर नहीं आएगा। वह मेरे परिवार की आर्थिक स्थिति को जानता था। इसलिए उसका मेरे पिताजी को देखने आना लगभग असंभव था। इस बात को जानते हुए भी मैंने डाक्टर के पास इसलिए गया था कि वाकई पिताजी की हालत बेहद ख़राब थी।"[32]

'आँखों की दहलीज' उपन्यास में मध्यवर्गीय एवं निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज की कथा कही गयी है। उपन्यास के सभी पात्र लगभग पढ़े-लिखे नज़र आते हैं। जमीला के परिवार को छोड़कर सभी की आर्थिक स्थिति भी मजबूत है। जहाँ शिक्षा वहाँ नौकरी और जहाँ नौकरी

वहाँ धन का अभाव नहीं होता है। उपन्यास में उल्लेखित तालिया के घर में सभी शिक्षित हैं। इसके अलावा शमीम, शिद्द्की साहब, शशि, जमीला सभी शिक्षित हैं। जमीला औरों के अपेक्षित कम पढ़ी है। पिता की मृत्यु के बाद घर का सारा बोझ उसी पर आ जाता है। वह नौकरी करके अपने भाई की शिक्षा को पूरी करना चाहती है साथ ही घर के सात भाई-बहनों एवं अपनी अम्मी का भी ख्याल रखती है। आर्थिक स्थिति ख़राब होने के कारण ही वह अपने प्रेमी जमशेद को खो देती है। जमीला अपने घर की हालत बताती हुई कहती है कि "घर की हालत तो तूने देखि है तालिया, बिना मेरे काम किए अब गाड़ी नहीं लुढ़केगी। भाई बी. एस. सी. में फिर फेल हो गया है। उसने एक पेपर नहीं दिया था, अम्मी को उसी दिन हार्ट अटैक हुआ था। और अगर भाई पढ़ाई छोड़कर सर्विस करता है तो उसकी पढ़ाई तो जाएगी ही, हम सभी बर्बाद हो जाएँगे। उसी के भरोसे तो हम सभी हैं। अब्बा को मरे इतने साल हो गए, उन्होंने जो छोड़ा था, कब तक पूरेगा?"[33] इस प्रकार देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुस्लिम समाज की आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति सोचनीय है।

संदर्भ सूची:

1. सच्चर कमिटी रिपोर्ट, भारत सरकार 2006, भारत में मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक स्थिति, पृष्ठ-47
2. रफीक जकारिया, बढती दूरियां: गहराती दरार, पृष्ठ-164
3. राकेश नारायण द्विवेदी, राही मासूम रज़ा और उनके औपन्यासिक पात्र, पृष्ठ-127
4. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-147
5. वही, पृष्ठ-147
6. वही, पृष्ठ-329
7. वही, पृष्ठ-328
8. वही, पृष्ठ-210
9. वही, पृष्ठ-178
10. वही, पृष्ठ-322
11. वही, पृष्ठ-232
12. वही, पृष्ठ-306
13. वही, पृष्ठ-194
14. डॉ. एम. फिरोज खान, राही मासूम रज़ा और बदीउज़्ज़माँ: मूल्यांकन के विविद्ध आयाम, पृष्ठ-283
15. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-98
16. वही, पृष्ठ-79
17. वही, पृष्ठ-18
18. वही, पृष्ठ-25
19. वही, पृष्ठ-121

20. शानी, काला जल, पृष्ठ-227

21. वही, पृष्ठ-177

22. वही, पृष्ठ-155

23. वही, पृष्ठ-62

24. वही, पृष्ठ-8

25. वही, पृष्ठ-197

26. सुनील यादव, भारतीय मुसलमान मिथक, इतिहास और यथार्थ, पृष्ठ-97

27. इब्राहीम शरीफ़, अँधेरे के साथ, पृष्ठ-68

28. वही, पृष्ठ-69

29. वही, पृष्ठ-70

30. वही, पृष्ठ-20

31. वही, पृष्ठ-23

32. वही, पृष्ठ-23

33. मेहरुन्निसा परवेज़, आँखों की दहलीज, पृष्ठ-71

4.4 स्त्री जीवन के प्रश्न

भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान सर्वोच्च रहा है। लेकिन वास्तव में पूरा विश्व पुरुष प्रधान समाज होने के कारण स्त्रियों को हमेशा से दबा कर ही रखा गया। उसे घर की इज्जत और शोभा से जोड़ दिया गया। पितृसत्ता का वर्चस्व स्त्रियों का हर प्रकार से दोहन किया। उसकी स्वतंत्रता से उसे वंचित रखा गया। उसके मष्तिष्क में यह बैठा दिया गया कि पति परमेश्वर होता है और उन्हीं के चरणों में स्वर्ग होता है। विडंबना यह रही कि स्त्रियों ने इसे ही सच मान लिया और उनके अत्याचारों को आत्मसात कर लिया। सृष्टि के आरंभ से ही स्त्रियाँ पुरुषों पर आर्थिक रूप से निर्भर बना दी गईं , जिसे पुरुष वर्ग अपने हिसाब से संचालन किया ताकि उसे अपने मुताबिक इस्तेमाल किया जा सके। यह सच है कि पुरुष ने उसे रक्षा प्रदान की है लेकिन यह भी सच है कि स्त्रियों को रक्षा की ज़रूरत भी पुरुषों से ही थी। दरअसल स्त्रियों की सत्ता से पुरुष डरता था और अपनी सत्ता कायम रखने के लिए ही स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रहार किया ताकि उसके अन्दर स्वाभिमान और स्वच्छंदता न पनप सके। उसे महज़ एक पालतू इन्सान की तरह ही समाज में जगह दी गयी। उसके शरीर के साथ खिलवार किया गया। उसकी सुरक्षा के नाम पर उसका शोषण किया गया। उसे सेक्स और घरेलू कार्यों तक सीमित कर दिया गया। स्त्रियों को उसके दैहिक सौन्दर्य को निखारने में इतना व्यस्त कर दिया कि वह उस घेरे से बाहर आ ही न सकी। कुल मिलाकर पुरुषों ने नारियों के मन में यह बात बैठा दी कि नारी तुम केवल शरीर हो और इस शरीर के मालिक पुरुष हैं जो जब चाहे जैसे चाहे उसे नोच-खरोच सके उसका उपभोग कर सके। नारी जब तक पुरुषों के नियंत्रण में रही तभी तक वह शील मानी गयी जैसे ही वह नियंत्रण से निकली उसे समाज की घृणा को सहना पड़ा। "साहित्य और समाज की सबसे बदनाम, बहिष्कृत और गुमराह औरतें वे हैं जो अपने शरीर और मन को अपने पतियों, स्वामियों या अभिभावकों तक ही सीमित नहीं रख पाई। यानी शरीर की माँग ने जिनके भीतर एक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति जगा दी। वे पुंश्चली, कुलटा, छिनाल, रंडी, पतिता इत्यादि के नाम से सजा की अधिकारिणी हुई। इस

स्वतंत्रता की सजा मौत ही थी"[1] सही मायने में स्त्रियों को समाज में पुर्णतः स्वतंत्र रहने की आजादी वर्तमान समय में भी नहीं दी जाती है। नारी को स्वतंत्र होने के लिए वेश्या बनना पड़ता है क्यूँकी इसके अलावा वह किसी की पत्नी किसी की बेटी होती है जिसे समाज में खुलकर जीने की आजादी प्राप्त नहीं होती है। सामंती समाज में स्त्रियों को इन्हीं के दिए नामों के नीचे जीना पड़ता था। ये नाम है पत्नी, रखैल और वेश्या। जिस लड़की को अपना नाम देकर सामाजिक मान्यता और सुरक्षा प्रदान की जाती है उसे पत्नी कहते हैं। जिसे संरक्षण देकर बिना अपना नाम दिए उपभोग करता है उसे रखैल और जिसे बिना नाम एवं संरक्षण दिए उपभोग करता है उसे वेश्या कहा जाता है। ऐसी महिला को एकाधिक मर्दों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः इस प्रकार "सामंती व्यवस्था में नारी सिर्फ एक वस्तु है, संभोग और संतान की इच्छा पूरी करने वाली मादा। यहाँ सेवा, उपयोग और वफादारी के बदले पुरुष नारी को उसी तरह सजाता, सुरक्षा देता और उसकी जिम्मेदारी लेता है जैसे अपने हाथियों, घोड़ों और बैलों को सजाता, सँवारता और संरक्षण देता है।"[2] इस व्यवस्था की दिक्कत यह है कि इन्हें अपने घर की बहू बेटियाँ ही सुरक्षित चाहिए उनकी इज्जत पर कोई हाथ न डालें। भले वे दूसरों की बहू-बेटियों की इज्जत से खिलवाड़ करें। इस व्यवस्था की मानसिकता दोगली एवं आत्मनिष्ठ है "दुनिया की सारी खुबसूरत बहू-बेटियाँ सिर्फ मेरे लिए हैं, लेकिन मेरी बहू-बेटी पर अगर किसी ने नज़र डाली तो उसकी आँखें फोड़ दी जाएँगी"[3] इस समाज में सारा दोष औरत जात पर ही लगता है। उन्हें ही सजा मिलती है भले ही वह उस गुनाह की जिम्मेदार न हो।

सच तो यह है कि औरत के बिना इस दुनिया की हम कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। औरत ने ही इस दुनिया को खूबसूरती प्रदान की है। उसी ने इस सृष्टि का निर्माण एवं संचालन किया है। वह हमेशा से सौम्य एवं संवेदनशील रही हैं जबकि पुरुष क्रूर और अत्याचारी रहा है। जितनी भी लड़ाईयाँ हुई हैं वह महज़ पुरुषों के आतातायी मिज़ाज के कारण। स्त्रियों को युद्ध से कोई लेना देना नहीं था। और जब-जब युद्ध हुए हैं उसका खामयाजा औरत को ही झेलना पड़ा है।

औरत ही उस विभीषिका को अपने अन्दर समाकर उसे शीतलता प्रदान की है। युद्धों से मिले घावों पर मरहम लगाने का काम भी औरत ने ही किया है। लेकिन दुर्भाग्य से औरत हमेशा से हाशिए की शिकार रहीं। अपने ममत्व और त्याग के कारण उसने कभी अपने अधिकारों की बात नहीं कही, बल्कि उल्टा पुरुषों पर अपना स्नेह लुटाती रहीं। औरत क्या है? उसे व्यख्या करते हुए अशोक पाण्डे लिखते हैं - "औरत ने कुदरत को सँवारकर रखने में अपनी हिस्सेदारी निभाई क्योंकि उसका जन्म ही सृजन के लिए हुआ था। उसने युद्ध नहीं रचे। उसे इसकी फुर्सत ही नहीं थी। तमाम तरह की विभीषिकाओं के बीच और उनके गुज़र जाने के बाद भी उसने जीवन के बीज बोए। इसके लिए उसे कभी किसी अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता नहीं रही। यह और बात है कि न जाने कब से पिलाई जाती रही त्याग, ममता और श्रद्धा की घुट्टियों ने उसके अस्तित्व को इस कदर बांधा कि वह आज तक इन्हीं छवियों में मुक्ति तलाशती आ रही है"[4] इतिहास में औरतों की दशा दयनीय और सोचनीय रही है। पुरुषों को हर प्रकार से मदद करने वाली ये महिलायें हमेशा परदे के पीछे ही रहीं। उसे आगे आने का मौका नहीं दिया गया। विश्व के आधुनिक कहे जाने वाले देशों ने भी उसे बहुत समय तक नकारते रहें। उसके वजूद को नज़रअंदाज करते रहें। तभी तो आधुनिक समय में भी उसे वोट देने का अधिकार तक नहीं दिया गया था। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सन् 1893 में न्यूजीलैंड ने नारी को वोट देने का अधिकार दिया। इसके बाद 1913 तक इस सूची में केवल तीन देश और जुड़ सके ऑस्ट्रेलिया, फिनलैंड और नॉर्वे। ताज्जुब इस बात से होती है कि स्विट्जरलैंड जैसे अत्याधुनिक देश में भी नारी को उसका मत देने का अधिकार 1971 में मिलता है। सन् 1915 में आइसलैंड की महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त हो चुका था। स्वतंत्र भारत की महिलाओं को यह अधिकार 1951 में मिला। आइसलैंड की महिलाओं ने अपने हिस्से के संसार में बराबर का हक मांगने के लिए 24 अक्टूबर सन् 1975 में सम्पूर्ण रूप से छुट्टी ले ली जिससे उस दिन आइसलैंड में कोहराम मच गया, सारे पुरुषों के होश ठिकाने आ गए। सारे सुपर मार्किट का खाना ख़तम हो गया, दफ्तर में

पिता के साथ गये बच्चों ने बवाल मचा दिया। स्कूल, दफ्तर, फैक्ट्री सब बंद हो गया, एक तरह से पूरा देश अपंग हो गया था। इन औरतों ने अपने काम के एबज में पुरुषों के समान मूल्य की मांग की। परिणाम स्वरूप "अगले साल सन् 1976 में आइसलैंड ने जेंडर आधारित समानता का कानून पास किया जिसके तहत स्कुलों और काम करने की जगहों पर आदमी-औरत के बीच भेदभाव समाप्त कर दिया गया।"[5] इस प्रकार पूरी दुनिया के इतिहास में नारी का स्थान घर की चार दीवार तक ही सीमित कर दिया गया था। परन्तु अब वह बात नहीं रही, अब स्त्रियाँ शिक्षित हो रही हैं। अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही हैं। आधुनिकता और नवजागरण ने लोगों में चेतना जगाई। आज साहित्य में स्त्री-विमर्श पर बहस होने लगी है, उसमें स्त्रियों की आजादी एवं समानता की बात कही जा रही है।

हिंदी उपन्यास का लेखन भी स्त्री-विमर्श से ही शुरू हुआ था। आरंभिक हिंदी उपन्यासों को देखें तो वहाँ स्त्रियों की शिक्षा इत्यादि पर बल दिया गया है। यह बात अलग है कि आरंभिक दौर में सम्पूर्ण रूप से स्त्रियों की आजादी की बात नहीं हो रही थी, उसे एक सीमा के अन्दर ही स्वतंत्र होने की आजादी दी गयी। गोपाल राय अपने 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' में कहते हैं कि- "यह एक रोचक तथ्य है कि हिंदी उपन्यास का आरंभ 'स्त्री विमर्श' से हुआ तथा आजादी-पूर्व के उपन्यासों में किसानों के बाद स्त्री की समस्याओं को ही प्रमुख स्थान मिला। इसका कारण उपन्यासकारों का नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना था। पर उस समय के पुरुष उपन्यासकारों ने परम्परागत नारी संहिता के चौखट में ही स्त्री के उद्धार की बात की। स्त्री के लिए उस घेरे के बाहर निकलने का कोई द्वार नहीं था।"[6] परन्तु धीरे-धीरे पूरे साहित्य में स्त्री-विमर्श ने जोर पकड़ा एवं साहित्य के केंद्र में स्त्री विषयक विचारधारा प्रवाहित हुई। खासकर आजादी के बाद बड़े बदलाव आयें। संविधान के लागू हो जाने के बाद भारतीय समाज की नारियों में नई चेतना का प्रस्फुटन हुआ। पुरुषों में भी नारी के प्रति जो पारंपरिक मानसिकता थी उसमें धीरे-धीरे

परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन को ही नारी संबंधी नवजागरण का दूसरा अध्याय कहा जाता है।

मुस्लिम समाज में स्त्रियों की स्थिति अन्य समाज की स्त्रियों से अधिक सोचनीय है। इस समाज में स्त्रियों के प्रति आज भी पारंपरिक मानसिकता ही चलन में है। कुछ अपवादों को छोड़कर देखने पर मिलता है कि धर्म के नाम पर इस समाज में स्त्रियों को परदे के पीछे रहने की हिदायत दी जाती है। उसकी शिक्षा के रास्ते में अनेक विघ्न पैदा करने की कोशिश की जाती हैं। यह सर्वविदित है कि मुस्लिम समाज हो या अन्य कोई समाज स्त्री हमेशा हाशिये की शिकार ही रही है। उसे समाज में भोग्या ही माना जाता रहा है। उसे बच्चे पैदा करने वाली मशीन बना दी गई। उसके अस्तित्व को धूमिल किया गया। उसके त्याग को अनदेखा किया गया, उसके सहयोग को अनदेखा किया गया। परन्तु सत्य यह है कि समाज और संस्कृति के निर्माण में नारी का योगदान सर्वोपरि रहा है। वह हर प्रकार से सक्षम होने के बावजूद भी उसे हमेशा समाज और परिवार में दूसरे स्थान पर ही रखा गया। हमेशा से उसे घर-परिवार, माता-पिता से यही शिक्षा प्राप्त हुई कि वह स्त्री है और स्त्री को परिवार को सजाने उसे बढ़ाने और उसके कल्याण हेतु अपने अस्तित्व को मिटा देने में ही उसकी सार्थकता छिपी हुई है। त्याग और बलिदान का पाठ उसे बचपन से ही पढ़ाया जाता रहा है। औरत इसी त्याग और बलिदान के पाठ के कारण ही अपना सर्वस्व परिवार और समाज के लिए न्यौछावर कर देती है। परन्तु इसके पश्चात भी नारी को वह सम्मान नहीं मिला जिसके लिए वह सारी उम्र हकदार रहीं। उसे निर्बल और असहाय की तरह ही पुरुषों ने आश्रय दिया और अपने लिए एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जहाँ सबकुछ पुरुष ही तय करेगा। स्त्री के योगदान अथवा उसके मत का कोई सरोकार नहीं होगा। इस प्रकार "परिवार नारी की सुरक्षा भी है और उसके व्यक्तित्व की मृत्यु भी"[7] राही मासूम रज़ा ने अपने 'आधा गाँव' उपन्यास में स्त्रियों की दयनीय स्थिति को दिखाया है। राही प्रगतिशील कथाकारों की श्रेणी में आते हैं। उन्होंने अपने उपन्यास में मुस्लिम समाज में व्याप्त स्त्रियों के प्रति हो रहे अमानवीय अत्याचार को

रेखांकन किया है। मुस्लिम समाज अनेक स्तरों पर प्रगति करने के बावजूद भी पुरानी रूढ़ियों और परमपराओं के साथ जी रहा है। मुस्लिम समाज में स्त्रियों के हृदय की कोमलता और उसकी भावनाओं को नजरअंदाज करके अपनी वासनाओं की पूर्ति हेतु एकाधिक विवाह करता है। इससे महिलाओं की भावनाओं को ठेस पहुँचती है। एकाधिक पत्नियों के होने से परिवार में कलह का वातावरण भी बना रहता है। पुरुषवर्ग अपनी मनमानी करता है। पत्नियों के होते हुए भी रखैल रखता है। पुरुषों के इस कुकृत्य को इस्लाम का हिस्सा बताकर पुरुष नारियों के साथ अन्याय करता है और स्त्रियाँ इस दुःख को सहने के लिए अभिशप्त बना दी जाती हैं। 'आधा गाँव' में राही जी दिखाते हैं कि लगभग सभी मर्द एकाधिक औरत रखे हुए हैं। घर में पत्नी होने के बावजूद बाहर दूसरी महिलाओं के साथ भी संबंध रखता है। "दूसरा ब्याह कर लेना या किसी ऐरी-गैरी औरत को घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था, शायद ही मियाँ लोगों का कोई ऐसा खानदान हो, जिसमें कलमी लड़के और लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने को भी नहीं होता, वे भी किसी-न-किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवार का शौक पूरा कर ही लेते हैं।"[8] उपन्यास के पात्र आसिया के ससुर भी पत्नी के होते हुए भी गाजीपुर में दूसरी औरत रख छोड़ी है। उसके अलावा अमतुल नामक महिला से भी संबंध रखता है। "मैंने तो कभी तुम्हारे ससुर को इस बात पर नहीं टोका कि उन्होंने गाजीपुर में एक रंडी क्यों रख छोड़ी है। और न ही मैंने उनसे यह पूछा कि अमतुल से उनके क्या ताल्लुकात हैं।"[9] घर की बीबियाँ इसे अपनी किश्मत समझकर दुखों का पहाड़ लेकर जीती हैं। इनका जीवन नरक समान हो जाता है इसीलिए ये औरतें सजना संवारना छोड़ देती हैं। क्योंकि "बीबियों के लिए खुबसूरत होना बिल्कुल ज़रूरी नहीं है खूबसूरती तो रंडियों के लिए ज़रूरी है"[10] उपर्युक्त उद्धरणों से समझा जा सकता है कि मुस्लिम समाज में एकाधिक संबंध स्थापित करने के पुरुषों की छुट से घर की महिलायें कितनी दुखी रहती हैं।

मुस्लिम परिवारों में नारी की मर्जी जाने बगैर कई बच्चें पैदा किये जाते हैं। गर्भ धारण करने अथवा न करने की स्वतंत्रता भी इनके पास नहीं होती है। अन्य समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी संतान के रूप में लड़के की ही चाहत रखते हैं। इनके यहाँ लड़कियों के जन्म होने पर जश्न की जगह मातम ही मानाया जाता है। उनके चेहरे पर ख़ुशी नहीं झलकती है और जब लड़की का जन्म होता है तब उसका दोष महिला पर ही लगा दिया जाता है। हमारा समाज आज भी संतान के रूप में लड़की को जन्म देने पर संतान की माँ को ही कोसता है। जबकि विज्ञान यह मानता है कि इसमें महिला का कोई रोल नहीं होता है। 'आधा गाँव' में फुस्सू मियाँ संतान के रूप में बेटे की ख्वाहिश रखते हैं परन्तु बार-बार सकीना बेटी को ही जन्म देती है जिसके कारण उसे हमेशा अपमानित जीवन जीना पड़ता है। "इन्हें शिकायत यह थी कि सकीना के यहाँ ताबड़तोड़ सात लड़कियाँ हो चुकी थीं और फुस्सू मियाँ एक बेटे के अरमान में मरे जा रहे थे। जब बच्ची पैदा होती तो फुस्सू मन्नतें-वन्तें मानकर और गंडे-ताबीज में जकड़-जकड़ाकर फिर कोशिश में लग जाते। यहाँ तक सकीना को मतली होने लगती और वह कोरे बर्तन में खाने लगती। ये दिन फुस्सू बड़ी बेचैनी में गुजारते। यहाँ तक कि फिर लड़की हो जाती और फुस्सू का मुंह लटक जाता और रब्बन-बी हाथ-उठाकर सकीना को कोसने लगती। लड़की-पे-लड़की पैदा त किये जा रही हो-बाक़ी ई घर में रोकड़ ना धरा है।"[11] सकीना को इसके लिए बहुत दुःख होता है। वह जानती है कि वह भी नहीं चाहती कि प्रत्येक बार उसे बेटी ही हो परन्तु नियति के सामने वह लाचार रहती है। वह भी चाहती है कि उसके यहाँ एक बेटा हो जिसके लिए दर-दर भटककर मन्नतें भी मांगती हैं। परन्तु उसकी सारी मन्नतें बेकार जाती हैं और अल्लाह पर से उसका भरोसा टूट जाता है। "सकीना इन कोसनों को पी जाती। तनहा होती तो रोती और अपने को बद्दुआ देती। ख़ुद उसने भी अनगिनत मन्नतें मान रखी थीं। साधुओं-फकीरों पर न मालूम कितने पैसे खर्च कर चुकी थी। रब्बन-बी को यह मालूम नहीं था, मगर सकीना ने अपना उत्राज बिकवाकर एक आमिल से छल्ला खिचवाया था। इसके नतीजे में तीसरी लड़की हुई थी। और तब दुआ-ताबीज पर से

सकीना का एतकाद उठ गया था। उसने नमाज पढ़ना भी छोड़ दिया था कि दो लड़कियाँ और हुईं और उसने सोचा कि लड़की या लड़का होने का अल्लाह मियाँ के कारखाने से कोई ताल्लुक नहीं है। इस ख्याल ने उसकी अकायदी जिन्दगी में फिर सुकून पैदा कर दिया और वह आठवीं लड़की के लिए जेहनी तौर पर तैयार हो गयी।"[12] सकीना को उस गलती की सजा दी जाती है जिसका गुनहगार वह नहीं रहती है। रब्बन-बी उसे हमेशा कोसती रहती है। औरत की स्थिति कितनी दयनीय होती है इसका आभास हमें राजेन्द्र यादव की यह पंक्ति दिलाती है। "औरत की स्थिति तो और भी नाजुक इसलिए है कि उसे अपने जीवन के हर क्षेत्र और हर स्थिति में उन्हीं अपराधों की सजा पानी है जिसकी जिम्मेदार वह कतई नहीं है। उसके बेटे हो या बेटी, क्या यह वह खुद तय कर सकती है?"[13]

सकीना की तरह अनचाहे गर्भ और एकाधिक बच्चों के जन्म से रजिये भी परेशान है। उसके पति मुहम्मद हसन बिना कुछ सोचे समझे व रजिये की मर्जी के बिना लगातार बच्चें पैदा करता जाता है। जिसे पालने-पोसने में रजिये को दिक्कत होती है। मुस्लिम समाज में यह समस्या आज भी बरक़रार है। आज भी औरतों का शोषण किया जाता है उसकी मर्जी को जाने बगैर ताबड़तोड़ बच्चे पैदा किये जाते हैं। "रजिये को रोता देखकर उसकी छः साल की लड़की कनीज़ फातमा उर्फ़ कद्दन रोने लगी और उसे रोता देखकर उसका साढ़े पाँच साल का लड़का सय्यद दिलशाद हुसैन आब्दी उर्फ़ दुल्लन भी रोने लगा। उसे रोता देखकर चार साल की सुलतान फातमा उर्फ़ फत्तो ने चीखना शुरू किया। उसके बादवाला पेट गिर गया था और उसके बादवाली परवीन फातमा उर्फ़ पम्मो अभी एक ही साल की थी, इसलिए हँसने-रोने से बेनियाज़ थी। रजिये की तबियत इधर छः सात महीने से ख़राब रहने लगी थी। शाम को तबीयत निढ़ाल रहती थी और हलकी-सी हरारत भी हो जाती थी। उसकी बड़ी-बड़ी चमकदार सियाह आँखों की चमक धुंधली पड़ गयी थी और मुस्कराहट के वे चिराग बुझ गये थे जो उसके होठों पर सदा जलते रहा करते थे। और इन सब बातों के साथ-साथ तीन महीनों का पेट अलग।"[14] रजिये की यह हालत देखकर

उसकी माँ उससे कहती है कि "मुहम्मद हसन को ईहे एक ठो काम रह गया है। जब देखो, तब पेट! दिन-तारीख देखके तड़ातड़ चले आ रहे एक के बाद एक!"[15] जितनी आसानी से यह बात वह अपनी बेटी को कह देती है उतनी आसान से यह बात एक पुरुष से नहीं कही जाती नारी की यही विडम्बना है। खैरुन के यहाँ भी अठारह बच्चे पैदा हुए "खैरुन के यहाँ ताबड़तोड़ अठारह बच्चे पैदा हुए। सबसे छोटा बच्चा सवा साल का था और सबसे बड़ी बेटी छत्तीस बरस की जो खुद माशाल्लाह से आठ बच्चों की माँ थी। उसका बड़ा बेटा लगभग बाईस बरस का था"[16]

स्त्री केवल पुरुषों द्वारा कही गई बातों को मानने वाली होती हैं उसका विरोध करने वाली नहीं। स्त्री को किसी महत्वपूर्ण काम में सहयोगी नहीं बनाया जाता है। उसकी राय की ज़रूरत पुरुष नहीं समझता है। 'आधा गाँव' में राही इस प्रश्न को कुबरा और हम्माद मियाँ के संवाद द्वारा उठाते हैं जहाँ हम्माद मिगदाद की शादी के विषय में कुबरा को फैसला सुना देते हैं। कुबरा के लाख विरोध करने पर भी कि यह शादी नहीं होनी चाहिए लेकिन उसकी एक न सुनी जाती है। "मैं तुमसे राय नहीं मांग रहा हूँ। कल अपने भाई साहब को ख़त लिखवा दो। कुबरा बहस करना चाहती थी। मगर हम्माद मियाँ ने करवट बदल ली। कुबरा दिल मसोसकर रह गयी।"[17] राही कुबरा के माध्यम से पूरी नारी जाति की इस विवशता को अंकन करने की कोशिश करते हैं। नारी पर हमेशा से अपने विचार और अपने फैसले को थोपा ही जाता रहा है।

मुस्लिम समाज में तलाक की समस्या भी भयावह है इससे महिलाओं में बहुत असुरक्षा की भावना बनी रहती है। बात-बात में इस समाज में तलाक दे दी जाती है। जाहिर है इसके लिए उसे किसी कानूनन प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता है। तलाक, तलाक, तलाक तीन बार बोल देने मात्र से तलाक हो जाती थी। इस व्यवस्था के कारण न जाने कितनी महिलाओं का घर बिखर गया, न जाने कितनी महिलायें आत्महत्या कर लीं। राही मासूम रज़ा तलाक की इस समस्या से त्रस्त सितारा की व्यथा को उपन्यास में उठाया है जो पति द्वारा छोड़ देने के बाद पूरी जिन्दगी कठोर यातना में गुजारती है "उसने झट सितारा को ब्याह दिया कि इसे सिवाय कोई चारा न था।

उसके यहाँ सतमासा बच्चा हुआ। एक बड़ा तंदरुस्त बच्चा। इस बच्चे को सितारा के ससुरार वालों ने शक से देखा। सितारा के मियाँ ने उसे तलाक़ दे दी। वह गाजीपुर वापस आ गयी।"[18]

राही मासूम रज़ा अपने उपन्यास में स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार को तो दिखाया ही है परन्तु इसके साथ ही उन्होंने उसके प्रतिपक्ष के रूप में एक ऐसी लड़की को खड़ा किया है जो इन पुरुष वर्गों की छोटी मानसिकता को नकारती हुई अपने जीवन को नई राह पर ले जाती है। वह शिक्षा ग्रहण करती है और उन तमाम मान्यताओं और रूढ़ियों को तोड़ती है जो मुस्लिम समाज में स्त्रियों को आगे बढ़ने से रोकती है। सईदा एक ऐसी ही लड़की है जो अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़ती है और फिर बाद में नौकरी भी करती है। उसके इस हिम्मत को देखकर गाँव के पुरुष को तो तकलीफ होती ही है परन्तु इससे भी ज्यादा तकलीफ गाँव की औरतों को होती है क्योंकि उनकी मानसिकता भी पुरुषों की मानसिकता से प्रभावित हो चुकी है। वह भी स्वीकार करती है कि स्त्रियाँ घर के भीतर रहने के लिए होती है। यदि वह बाहर जाती है तो इससे परिवार की इज्जत ख़राब होती है। "उसने बी. टी. कर लिया था और गंगौली और आस-पास के तमाम 'शुरफ़ा' और उनकी 'शरिफाओं' के नाक-भौं चढ़ाने के बावजूद उसने नौकरी कर ली थी। शुरू-शुरू में तो खुद अब्बू मियाँ को यह बात बहुत बुरी लगी थी। उन्होंने सईदा से बोलना तर्क कर दिया था, लेकिन तब जमींदारी ख़त्म नहीं हुई थी। इधर-उधर लोगों ने काफ़ी बातें बनायीं। सईदा कई लोगों से फंसायी गयी। उसके दो-एक पेट गिराये गये।"[19] इन सब बातों को सिरे से खारिज़ करती हुई सईदा खूब पढ़ती है और अपने परिवार की मदद करती है।

अशिक्षा और बाल विवाह की समस्या एक गंभीर समस्या है। कम उम्र में ब्याही स्त्रियाँ सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ रहती हैं ऐसे में वे न परिवार को ही सही दिशा में आगे बढ़ा सकती हैं न ही एक स्वस्थ परिवार का नियोजन ही कर सकती हैं। जिस उम्र में बच्चों को पढ़ना और खेलना चाहिए उस उम्र में यदि लड़की की शादी कर दी जाए तो निश्चित उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाएगा। बदीउज़्ज़माँ के 'छाको की वापसी' में ऐसी अनपढ़ स्त्रियों का भरमार

देखने को मिलता है जो अशिक्षित तो हैं ही साथ ही बाल विवाह के शिकार भी हैं। गरीब परिवार में लड़कियों को बोझ समझा जाता है इसलिए वे जितना जल्दी हो सके इस बोझ से निजात पा लेना चाहते हैं। यही कारण है कि लड़कियों के जन्म से ये समाज संतुष्ट नहीं होता है। कम उम्र में ब्याही ये लड़कियाँ शादी तो कर लेती हैं लेकिन सांसारिक ज्ञान से अनजान रहती हैं। और यहाँ तक कि प्रदेश में काम कर रहे पति के पत्र भी आजीवन दूसरे से ही पढ़वाती है। कथानायक गाँव में ऐसी महिलाओं के ऊपर क्रोधित भी होता है और उनपर दया और हंसी भी आती है। "हालाँकि देखा जाए तो हँसने की कोई बात नहीं है। जिस वर्ग की औरतें मुझसे ख़त लिखवाने आती हैं उनमें आठ-नौ साल की उम्र होने से पहले ही लड़कियाँ ब्याह दी जाती हैं।"[20] आज भी गरीब घर की लड़कियों को शिक्षा से वंचित रखा जाता है और उसे जितनी जल्दी हो सके अपने सिर के बोझ को हटा लेते हैं।

बदीउज़्ज़माँ के उपन्यासों में बिहारी मुसलमान स्त्रियों के जीवन प्रश्न को अभिरुचिपूर्ण ढंग से व्यक्त किया गया है। उनकी सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक स्थितियों का भी जीवंत चित्रण हुआ है। पुरुषों द्वारा प्रताड़ित स्त्रियों के साथ-साथ स्त्रियों के आपसी मनमुटाव एवं गृह कलह, नोक-झोक तथा उनके संघर्षशील स्थितियों का यथार्थ वर्णन भी इनके उपन्यासों में देखने को मिलता है। निःसंदेह बदीउज़्ज़माँ का स्त्री विषयक दृष्टिकोण संवेदनशील एवं मानवीय गुणों से ओतप्रोत है। वे बाल विवाह के घोर विरोधी एवं विधवा विवाह के समर्थक थे। उनके कई उपन्यासों में बाल विवाह का जिक्र आया है। मुस्लिम निम्नवर्गीय समाज की इस सचाई का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने उपन्यास सभापर्व में लिखा है "हमारे मुहल्ले की लड़कियाँ जवान होने से पहले ही बुढ़िया हो जाती है। आठ-नौ बरस की हुई नहीं कि ब्याह दी गई। साल डेढ़ साल में गौना हो गया। घर गृहस्थी का बोझा और बच्चे पैदा करने का सिलसिला शुरू हो गया। बीस-बाईस की उम्र, आते-आते बेटा-बेटी की शादी की फ़िक्र करने लगती है। सत्ताईस-अट्ठाईस की होते-होते दादी नहीं तो नानी ज़रूर ही बन जाती थी। शरीफ़ घरानों में यह नहीं चट मँगनी पट

ब्याह। ऊँची जाति के घरानों में शादी के वक्त लड़की के सात पुस्तों तक को खंगाला जाता है। पंद्रह-सोलह साल की होने से पहले शायद ही शादी की जाती हो।"[21] मुस्लिम समाज में जहाँ छोटी जाति के लोगों में बाल विवाह का प्रचलन है तो वहीं ऊँची जाति के लोगों में विधवा विवाह प्रतिबंधित है। जबकि इस्लाम विधवा विवाह की अनुमति देता है। फिर भी मुस्लिम समाज उसे घोर अपमान का विषय समझता है। यदि कोई विधवा विवाह करता भी है तो उसे समाज से बहिस्कृत कर दिया जाता है। पुरुष इस मामले में स्वतंत्र विचरण कर सकता है परन्तु स्त्रियाँ घर की चार दीवारी में कैद हो जाती है। उनका केवल तीज-त्योहारों में ही एक-दूसरे से मिलना होता है। 'छाको की वापसी' उपन्यास में भी छाको की बहन जनवा उर्फ़ जैनब विधवा है। अपने बच्चों के साथ छाको के साथ रहती है।

भारतीय समाज की औरतें सहनशीलता की प्रतिमूर्ति रही हैं। पुरुषों द्वारा किये गए लाख अत्याचारों को अपने आंसुओं के घूंट बनाकर पी जाती रही हैं। अपने परिवार और अपने बच्चों के भविष्य के प्रति चिंतित रहना और उसकी समृद्धि के लिए वे सदैव पुरुषों की अमानवीय व्यवहार को सहती आई है। मुस्लिम समाज की औरतें भी इससे अछूती नहीं है। स्त्री तो स्त्री होती है चाहे जिस धर्म से हो उसके हिस्से में धैर्य और त्याग ही आया है। 'छाको की वापसी' में बदीउज़्ज़माँ ने ऐसी स्त्री का चित्रण किया है जो अपने पति के क्रूर व्यवहार से आतंकित है। अम्मा ऐसी ही पात्र है जो अपने पति से थर-थर काँपती हैं। उनके सामने कभी कुछ न कह पाने की हिम्मत उसे और अबला बना देती है। "अम्मा के किसी एक रूप पर स्थिर नहीं हो पाता हूँ। सैकड़ों, हजारों वर्षों से दबी हुई भारतीय नारी जिसमें बगावत की एक भी चिनगारी नहीं है या फ़ौलाद की तरह मजबूत दिल रखने वाली औरत जो कड़ी-से-कड़ी परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होती! अम्मा आखिर क्या थीं?"[22] दरअसल अम्मा जैसी औरत भारतीय स्त्रियों का प्रतीक है जो संस्कार के नाम पर पति द्वारा प्रताड़ित होती रहती हैं और अपने आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाती रहती हैं। जब तक अब्बा जीवित रहते हैं अम्मा ऐसे ही अपना जीवन यापन करती रहती

हैं। घुट-घुटकर ही अपनी भावनाओं को दबाती हैं। कभी कुछ नहीं कहती थीं। घर का संचालन अब्बा अपने हाथों में रखते हैं। अब्बा के किसी कार्य में दखल नहीं दे सकती हैं। वह हर बात को ख़ामोशी से सुनती थीं कभी किसी बात का विरोध नहीं करती हैं। लेखक स्त्री की इस समस्या का मार्मिक चित्रण करते हैं कि "अब्बा जब तक जीवित थे वह बिल्कुल दबी-दबी रही थीं। अब्बा के सामने उनकी एक न चलती। सबकुछ अब्बा की मर्ज़ी और हुक्म के मुताबिक होता था। किसी भी मामले में अम्मा का कोई दखल था ही नहीं। रुपया-पैसा, लेना-देना, घर का इंतजाम सब कुछ अब्बा के हाथ में था। अम्मा तो एक कठपुतली थीं जो अपनी मरजी से हिल-डुल भी नहीं सकती थीं। अब्बा ज़रा-ज़रा-सी बात पर किस तरह आपे से बाहर हो जाते थे, किस कदर डाँट-फटकार सुननी पड़ती थी अम्मा को! लेकिन क्या मजाल जो एक लफ़्ज भी मुँह से निकाल सकें?"[23] स्त्री का स्थान पुरुषों के बराबर होता है, उसे कमतर समझने की भूल पुरुष की सबसे बड़ी भूल है। नारी पुरुष का आधा अंग है तभी तो ईश्वर भी अर्धनारीश्वर कहलाते हैं। स्त्रियों को पुरुष के समान ही समझना चाहिए न कि उसे कोई वस्तु। स्त्री-पुरुष दो शरीर ज़रूर है परन्तु वह एक दूसरे से संबंधित है। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। नारी के बिना पुरुष अपने जीवन की कल्पना कभी नहीं कर सकता। पुरुष को इस बात को समझनी पड़ेगी। "स्त्री पुरुष की सहभागिनी है वह तुच्छ नहीं है, उसे पुरुष के हर छोटे-बड़े काम में भाग लेने का अधिकार है। उसे पुरुष की ही भाँति समानता, स्वाधीनता और स्वतंत्रता पाने का अधिकार है। उसे अपने कार्य क्षेत्र में उसी प्रकार पूर्ण अधिकार प्राप्त है, जिस प्रकार पुरुष को अपने कार्य क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त है।"[24] परन्तु स्त्रियाँ अपने अधिकार से वाकिफ नहीं है और समाज में वह अपने अधिकारों की मांग भी उस तरह करने की हिम्मत नहीं कर पाती है। स्त्रियों की इस दशा से बदीउज़्ज़माँ को सख्त पीड़ा होती है। वह समाज के इस व्यवस्था पर प्रहार करते हुए नज़र आते हैं। उनका मानना है कि कहीं-न-कहीं स्त्रियों की इस स्थिति के जिम्मेदार भी स्त्रियाँ ही हैं क्योंकि वह विरोध नहीं करती हैं। यदि वह इस व्यवस्था और पुरुषवादी मानसिकता का विरोध करती तो उसे इस तरह सहम-सहम कर

जीवन यापन करने की अवश्यकता नहीं होती। लेखक अम्मा के इसी भय को उसके पराधीन होने का कारण बताते हुए लिखते हैं- "लेकिन आज भी अम्मा के बारे में सोचता हूँ तो यही लगता है कि वह जिस खौफ़ और दहशत से पीड़ित थीं उससे छुटकारा पाना कुछ ज्यादा मुश्किल नहीं था। बस थोड़े से सहस की ज़रूरत थी। अगर वह इतना साहस बटोर सकतीं तो यक़ीनन अब्बा का रवैया उनकी तरफ कुछ और ही होता।"[25] लेखक का मानना है कि व्यक्ति जितना डरता है समस्या उतनी ही बढ़ती जाती है। डर का मुकाबला करना ही डर से विजय दिला सकता है। जो डर पर विजय प्राप्त किया है वही सच्चे अर्थ में जीवन को जिया है। जो इस डर को अपने जीवन का हिस्सा बनाये रखा है उसे यह डर हमेशा परेशान किया है। अम्मा के इसी डर को लेखक ने अब्बा की हिम्मत बताई है। "मुझे लगता है कि कसूर अम्मा का ही है। वह जितना डरती हैं अब्बा की हिम्मत उतनी ही बढ़ती जाती है। दो टूक जवाब देकर तो देखें। तब अब्बा भी कुछ सोचेंगे अम्मा को डाँटने-फटकारने से पहले। अभी तो उन्हें शक भी नहीं होता कि अम्मा कोई जवाब भी दे सकती हैं।"[26]

स्त्री केवल घर के बाहर ही असुरक्षित नहीं है वह घर के अन्दर भी उतनी ही असहाय और असुरक्षित है। शानी ने अपने उपन्यास 'काला जल' में स्त्रियों की समस्याओं का व्यापक तौर पर यथार्थ और मार्मिक चित्रण किया है। यह उपन्यास शानी की अपनी व्यथा और अपनी पीड़ा भी है। इसमें शानी ने स्त्रियों के ऊपर हो रहे अत्याचारों को सजीव कर दिया है। ऐसा लगता है मानो यह पीड़ा स्त्री की न होकर शानी की अपनी पीड़ा हो जिसके दर्द में कराह कर उन्होंने उसे शब्दबद्ध कर दिया है। चारों तरफ से पारिवारिक संस्कारों और स्त्री-धर्मिता के घेरे में आबद्ध स्त्री की बेचैनी और छटपटाहट से दिल दहला देने वाला उपन्यास 'काला जल' अपने समय और सीमा को लांघकर आज की स्त्रियों की भी मनोदशा को कहने का समर्थ रखता है। निश्चित तौर पर शानी के स्त्री-विषयक दृष्टिकोण इतनी कम उम्र में इतना उम्दा था कि यही कुशलता शानी को

शानी बनाता है। शानी के इस पूरे उपन्यास में स्त्रियों की कारुणिक दशा देखने को मिलती है। कभी पत्नी के रूप में, कभी बेटी के रूप में तो कभी प्रेमिका के रूप में।

उपन्यास के आरंभ में ही शानी स्त्री-दशा के भयानक दृश्य को सुनारिन के रूप में प्रस्तुत कर स्त्री-विषयक समस्या का उद्घोष कर देते हैं। कभी बेटी के रूप में पली सुनारिन को सुनार पत्नी बना लेता है और उसका शोषण करता है। शोषण का यह दृश्य कितना वीभत्स और दयनीय है- "दलान के कच्चे फ़र्श पर सुनारिन बिल्कुल नंगी पड़ी हुई थी और बलपूर्वक उसे दबाये हुए उसका पति छाती पर बैठा हुआ था। अपने हाथ में सोने के जेवर बनाने वाली छोटी हथौड़ी लिये वह युवती की नाभि के नीचे की नंगी हड्डी पर रह रह कर चोट देता, दांत पीसता और जैसे सबक सिखाने के ढंग पर गन्दी गालियाँ बकता हुआ कहता, अब, बोल, बोल ..."[27] घर के भीतर होने वाली अमानवीय अत्याचार बहुत कम ही बाहर के लोगों को पता चलता है। स्त्रियाँ इसे घर परिवार की इज्जत को बचाए रखने के लिए अपने अन्दर ही समेटी रहती है जिसके कारण पुरुषों की हिम्मत और बढ़ती है। सुनारिन के साथ हुए इस घटना ने गाँव की औरतों को झकझोर दिया था। उन महिलाओं ने सुनार को बहुत कोसा और उसे अपमानित करते हुए गालियाँ भी दी "औरतें अंगुलियाँ चटख चटख कर कोसतीं कि नासपीटा बुड्ढा आखिर बुरी मौत मरेगा। देह से कोढ़ रोग न फूटे तो कहना! ऐसे पापियों को जाने कैसे मौत भी नहीं आती? भले मुँहबोली हो, जिसे बेटी की तरह पाला हो, उसे ही जवान होने पर पत्नी बना ले और ब्याहता बीवी को रास्ता बता दे, ऐसे आदमी के लिए पाप शब्द भी क्या हल्का नहीं पड़ जाता?"[28] रोशन फूफा भी पुरुषवादी मानसिकता से जकड़े हुए हैं, उनके अन्दर भी स्त्रियों के प्रति सहानुभूति की कमी है। वे औरत को औरत नहीं सिर्फ काम आने वाली बाई समझते हैं। दिन भर नौकर की तरह काम करती रहती हैं फिर भी उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं। उनके साथ बदतमीजी करते हैं, उनके साथ मार-पीट करते हैं, कभी जलती लकड़ी से भुन देते हैं तो कभी खाना उसके ऊपर फेक देते हैं। इसी तरह का एक दृश्य द्रष्टव्य है- "उन्होंने दाल की कटोरी उठाई, फूफी के मुंह पर दे मारी

और दांत पीसकर यह कहते हुए चले गए, "ले साली, अब तू ही खा..."[29] इस तरह के व्यवहार उपन्यास में भरे पड़े हैं जिसे देखकर आत्मा पसीज जाता है।

जब घर की स्त्रियाँ घर के लोगों द्वारा ही प्रताड़ित की जाती हो, उनका शोषण किया जाता हो तो कल्पना कीजिये बाहर उसकी दशा क्या होगी? घर के बुजुर्ग ही यदि मर्यादा का उलंघन कर अपनी बहू-बेटियों का यौन शोषण करें तो बेटियाँ कहाँ अपने को सुरक्षित समझेगी? यह विचारणीय प्रश्न है जिसे शानी ने पूरी हिम्मत के साथ खड़ा किया है। अपने समाज की कमियों को दिखाना साहस का काम होता है। शानी ऐसी शख्सियत का नाम है जो जीते जी कभी किसी की प्रवाह नहीं की और बेहिचक बिना किसी डर के अपने समाज की कमियों को बताता रहा और स्त्री पर हो रहे अत्याचार का विरोध प्रकट करते रहें। पितृहीन रशीदा को अपने ही घर में चाचा द्वारा यौन शोषण का शिकार होना पड़ता है। "रशीदा बेचारी का बाप नहीं रह गया, चाचा के पास रहती है, लेकिन चाचा खुद दोजख का कीड़ा है। उसकी शादी-ब्याह करता नहीं, बेचारी कुँवारी ही बूढ़ी हो रही है। जो जो पैगाम लेकर पहुँचता है, उसे गाली-गलौज करके निकाल देता है। सारी बिरादरी में मशहूर कर रखा है कि मुनासिब लड़के मिलते नहीं, लेकिन हकीकत कुछ और है- ऐसी कि मुंह पर आते ही जबान कट कर गिर जानी चाहिए। वैसे रखने को सफ़ेद दाढ़ी दिखाने को पंचवक्ता नमाज, लेकिन भीतर से? तोबा, तोबा, अल्लाह रहम करे, कहीं जीते जी उसके बदन में कीड़े न पड़ जाएँ!"[30] रशीदा जैसी स्त्री मुस्लिम समाज में अनेको हैं जिन्हें घुट-घुट कर अपना जीवन यापन करना पड़ता है। इस समाज की व्यवस्था ही कुछ ऐसी है जिसमें अधिकांशतः लड़कियों को ही आत्म हत्या करनी पड़ती है। क्योंकि मुक्ति औरत को ही चाहिए होती है। पितृसत्ता से मुक्ति शरीर को त्याग कर ही मिल सकता है। यह तथ्य चौकाने वाला ज़रूर है लेकिन है तो सच। ऐसा कोई समाज नहीं जहाँ पुरुषों का वर्चस्व नहीं है। ऐसे में मुक्ति का एक मात्र रास्ता ख़ुदकुशी ही है! रशीदा को यही रास्ता सुगम जान पड़ता है। वह इस कोशिश में एक बार अपने शरीर को भून लेती है। फिर कुछ दिन बाद जब उसे लगा कि उसे अपने को ख़तम कर देना चाहिए

और वो चरम सिद्धांत को अपना ली "खुदा जाने उसके बाद उसने क्या सोच- समझ, हफ्ते भर बाद सुना कि एक रात जब सब सो रहे थे तो अपने शरीर पर किरासिन तेल छिड़क कर वह जल मरी..."[31] मालती भी घरेलू यौन शोषण का शिकार थी। मालती को रज्जू मियाँ छोटी उम्र से घर में बेटी की तरह पालता है और जब वह जवान होती है तो बजाए इसके कि उसकी कहीं शादी कर दे बल्कि उसी के साथ घर में यौन शोषण करते हैं। एक अनाथ लड़की के जीवन के साथ इस तरह खिलवाड़ करना निहायत ही घोर अपराध की श्रेणी में आता है। शानी ने रज्जू मियाँ के इस नाजायज और अनैतिक संबंध को सांकेतिक भाषा में उजागर किया है। मालती को देखते ही फूफी समझ जाती है परन्तु उस समय वह चुप रहती हैं। लेकिन समय चुप नहीं रहता है, एक न एक दिन वह सबके सामने सच को ले ही आता है। मालती और रज्जू मियाँ का संबंध भी एक दिन सबके सामने आ जाता है। "जैसे ही छन छन करती हुई दाल कड़कड़ाते तेल वाली पतीली में लौटने लगी और उसकी खुश्बू उड़ी, मालती ने अपनी साड़ी का पल्लू नाक पर कर लिया, हल्की सी ली, एक क्षण बाद 'उआ उआ' करती बाहर भागी नाली के पास बैठ कर कै करने लगी।"[32] यह बात अलग है कि मालती का सच सबके सामने आ जाने के बावजूद वह रज्जू मियाँ का नाम अपने होठों पर नहीं लाती है। अंततः अपनी फूटी किश्मत लेकर उस घर से बाहर निकल जाती है।

रज्जू मियाँ के शोषण का शिकार सिर्फ मालती ही नहीं होती है बल्कि फूफी भी होती है। फूफी जब से शादी करके रोशन फूफा के घर में आती है तब से रज्जू मियाँ की आँखों का गराव महसूस करती रहती हैं। रज्जू जैसा लम्पट व्यक्ति समाज के लिए कलंक ही होता है जो न बेटी समान लड़की को ही छोड़ते हैं न अपनी सगी बहु को ही। रज्जू मियाँ को जैसे ही घर में किसी के न होने का भान होता है वह फूफी का हाथ पकड़ लेता है "वह तत्काल पलटीं और तेजी से दरवाजे से बाहर हो जाना चाहती थीं, पर अचानक से पीछे बगल की ओर से एक हाथ ने, उनकी बाँह, ठीक काँख के नीचे से पकड़ ली और छोटी फूफी को लगा कि साँस ही रुक जाएगी। उनके

सिर और सिने का पल्लू ढलक कर दूसरी बाँह पर आ रहा, कलेजा धड़-धड़ाने लगा। बिजली जैसी फुर्ती और सारी ताकत के साथ उनके एक हाथ ने वह पकड छुड़ाई और झाग उगलने वाली साबुन की तरह फिसल कर वह बाहर निकल भागीं।"[33] घरेलू हिंसा का निराकरण आज तक भी नहीं हो पाया है। आज भी घर के भीतर महिलायें तरह तरह के शोषण का शिकार होती हैं। बहुत कम मामला पुलिस थाना तक पहुँच पाता है। फूफी भी यह बात समझती है कि उसकी इस बात का भरोसा कोई नहीं करेगा। इसीलिए वह अपने यौन शोषण का जिक्र किसी से नहीं कर पाती है। समाज में स्त्रियों की इज्जत के बहुत मायने होते हैं एक बार उछलने पर सारी उम्र पीड़ा देती है। यही सोचकर अधिकांश मामलों को घर के भीतर अथवा मन के भीतर ही दबा दिया जाता है। निःसंदेह भारतीय नारी की यह समस्या असहनीय और अकल्पनीय है।

बब्बन की माँ भी अन्य भारतीय नारी की तरह पति के अत्याचारों का शिकार होती हैं। उसकी गन्दी गालियों और उसके लात-जूते को भी खाना पड़ता है। भारतीय समाज में पति द्वारा पत्नियों को पीटना आम बात है। बहरहाल बब्बन की माँ अपने पति के अत्याचार से त्रस्त है। उसका पति सामन्ती समाज के रंगीन मिज़ाज का शिकार है जिसका खामयाजा उसके परिवार को भुगतना पड़ता है। इसी रंगीन मिज़ाज के कारण उसका घर भी बिक जाता है। लेकिन उसकी अक्ल ठिकाने नहीं लगती है। वह अपने घर में एक नेक पत्नी के रहते हुए घर के बाहर दूसरी औरत से नाजायज संबंध रखते हैं जिससे परिवार में तनाव का माहौल बना रहता है। प्रत्येक दिन अब्बू और अम्मी में नोक-झोंक होती रहती है। शानी इसको दिखाते हैं। "अंत में यह हुआ कि अब्बा ने गन्दी गालियों के साथ अम्मी का झोंटा पकड़ कर खाट पर पटक दिया और बेहिसाब लात-घुसे जमा कर हाँफते हुए कमरे के बाहर निकल गये"[34]

सल्लो इस उपन्यास का महत्वपूर्ण पात्र है जिसे शानी ने अमर कर दिया है। वह एक मात्र ऐसी पात्र है जो पूरे उपन्यास को एक अलग आयाम देती हुई नज़र आती है। उसके व्यक्तिव को लेखक ने सबसे अलग और अनूठा स्वरूप प्रदान किया है। वह समाज और परिवार के भीतर कैद

रहने वाली लड़की नहीं है। वह खुले आसमान में विचरने वाली लड़की है जो आधुनिकता को अपनाई हुई है। वह घर में कैद नहीं रहना चाहती है, न ही वह लड़के के कोट-पैंट पहनने पर ही सकुचाती है। वस्तुतः वह अंग्रेजी ढंग का सिगरेट पीने वाली आधुनिक लड़की के रूप में प्रस्तुत की गयी है। लेकिन उसकी सोच और रहन-सहन पुरुष सत्ता के इस समाज में फिट नहीं बैठती है और उसका अंत अत्यंत रहस्यमयी एवं कारुणिक होता है। वह कहती थी कि "मरने से नहीं डरती डर तो मुझ कब्र से लगता है।"[35] ध्यातव्य है कि कब्र किसी बंद घर की तरह ही होती है जिसमें स्त्रियों का दम घुटता है। इस कब्र के निर्माता उसे उसी के अन्दर रखना चाहते हैं।

मुस्लिम समाज में चार-चार शादी करने का भी चलन है। जिसे अल्लाह की तरफ से भी छुट मिली है ऐसा माना जाता है। पुरुषों ने अपनी रंगरलियाँ के लिए इस व्यवस्था को हमेशा से कायम रखा है। मजहब के नाम पर एकाधिक स्त्रियों के साथ निकाह करना कहीं से भी उचित नहीं है। इससे किसी परिवार का भला नहीं होता है। इससे स्त्रियों का जीवन कितना बदरंग और धूमिल हो जाता है। मिर्जा की दो-दो शादी होती हैं जिसमें बाद वाली पत्नी बिलासपुर वाली की हालत एक नौकरानी की तरह हो जाती है। पहली पत्नी बी उससे बड़ी होने के कारण वह उसका शारीरिक शोषण करती है। उसे रात भर दरवाजे के बाहर छोड़ देती है और स्वयं मिर्जा के साथ सोती है। बिलासपुर वाली दिन-रात नौकरों की तरह काम करती रहती है। उसे मारा-पीटा जाता है और पति के प्रेम भरे दो बोल से भी वंचित कर दिया जाता है। अंततः मिर्जा के निधन के बाद उस पर इतना अत्याचार किया जाता है कि वह एक दिन मिर्जा का घर छोड़ कर चली जाती है। बिलासपुर वाली जैसी दूसरी तीसरी पत्नी की समस्याओं का सुध लेने वाला कोई नहीं होता है। ऐसी महिला अपनी किश्मत को कोसती हुई नरकीय जीवन जीने को विवश है।

'अँधेरे के साथ' उपन्यास में इब्राहीम शरीफ़ ने धर्म के विद्रूप रूप को दिखाया है। मजहब की चादर ओढ़कर ही चेयरमेन उस गाँव पर राज करता आ रहा था और जो उसे उस रास्ते पर चलने में दिक्कत देता था उसे उस रास्ते से हटा देता था। धर्म के ऐसे ठेकेदारों को शरीफ़ ने आरे

हाथों लिया है, उसके धार्मिक कट्टरता को सबके सामने लाने का प्रयास किया है। कथानायक की माँ और बहन उसी के ऊपर निर्भर है। लेकिन चेयरमेन के कारण घर की इन महिलाओं का जीना दूभर हो चुका है। अपने पद का दुरूपयोग करके सभी के साथ खिलवाड़ करता है। कथानायक की नौकरी छुड़वा कर उसे असहाय और बेरोजगार बना देता है जिसके कारण उसकी माँ की उचित इलाज एवं खाने-पीने के अभाव के कारण मौत हो जाती है। उसके घर में एक जवान लड़की भी है परन्तु वह भी घर की बोझ बनी बैठी है। यदि वह भी किसी प्रकार से आर्थिक मदद कर सकती जिससे उसके परिवार को मदद मिलती लेकिन गाँव में यह मर्दों के शान के खिलाफ है। मुस्लिम समाज में लड़कियों को घर के बाहर काम करने की इजाजत बहुत कम देते हैं। गाँव में तो हरगिज नहीं।

उपन्यास में मिले संकेत के अनुसार कथा नायक की बहन पेट से रहने के कारण घर से निकल भागती है। गाँव समाज में इस तरह के मामले को गंभीर पाप माना जाता है। किसी मर्द के यौन शोषण के कारण वह गर्भवती हो जाती है। "दादा मैं तुम्हारे और खानदान के मुँह पर कालिख पोत कर जा रही हूँ"[36] इसमें उसका कोई कसूर नहीं होगा यह कहा नहीं जा सकता क्यूँकी उपन्यास में कहीं इस संदर्भ में कोई जिक्र अथवा संकेत नहीं मिलता है। परन्तु क्या किसी मर्द के लिए यह उचित है कि किसी असहाय लड़की को प्रेग्नेंट बना कर उसे जीवन के सफ़र में अकेला सजा भुगतने को छोड़ दिया जाए। यह विचारणीय प्रश्न है। मर्द औरत को केवल भोग नहीं सकता उसकी जिम्मेदारी का भी वहन करना उसका दायित्व होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। हमेशा लड़की को ही इस विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है।

भारतीय समाज में स्त्री की सम्पूर्णता उसकी मातृत्व में ही मानी जाती है। एक स्त्री वास्तव में माँ बनने के बाद ही सम्पूर्णता का बोध करती है। यदि कोई स्त्री किन्हीं कारणों से माँ बनने से वंचित रह जाती है तो उसे जीवन एक बोझ के समान लगता है। माँ बनना अपने आप में परम सुख को प्राप्त करने जैसा है। इसलिए उसे जगत जननी कहा गया है। सनातन धर्म में स्त्री का स्थान

देवी के समान है। ईश्वर भी तभी सम्पूर्ण होते हैं जब उनके साथ नारी की पूजा होती है। इसलिए ईश्वर को अर्धनारीश्वर भी कहा जाता है। पूजा पाठ भी नर-नारी दोनों को मिलकर ही करना पड़ता है। किसी यज्ञ में भी पति-पत्नी दोनों को साथ बैठना पड़ता है तभी यज्ञ संपन्न माना जाता है।

माता का स्थान सर्वोपरि माना गया है। भारत वर्ष में माता ही गृहिणी व गृह स्वामिनी होती है जबकि विदेश में घर की स्वामिनी पत्नी होती है। भारतीय समाज में पत्नी का स्थान माता के बाद ही होता है। माता के अन्दर सहनशीलता का अपार धैर्य होता है। वह कष्टों को न सिर्फ सहती है बल्कि दूसरों के कष्टों में भी उसका साथ देती है। भारतवर्ष में मातृत्व को पाना स्त्रियों के लिए किसी तप से कम नहीं माना जाता है। मातृत्व के धारण मात्र से ही एक साधारण स्त्री माँ बन जाती है। "भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थ-शुन्यता, कष्टसहिष्णुता और क्षमा-शीलता का भाव निहित है।"[37] परन्तु जब यह वरदान किसी स्त्री को प्राप्त नहीं होता है तो उसकी दुनिया उजर जाती है। मेहरुन्निसा परवेज़ के उपन्यास 'आँखों की दहलीज' में तालिया भी मातृत्व के इस सुख से वंचित हो जाती है। संतान के अभाव में उसके जीवन में काफी निराशा छा जाती है। उसे पहली बार इस बात का बोध अस्पताल में होता है कि वह अब कभी माँ नहीं बन सकेगी। यह ओहदा इतनी बड़ी है कि इसे प्राप्त न कर पाने की टीस उस स्त्री को ही होती है जो इससे वंचित रह जाती है। आस-पास के माहौल में वह अपने आप को अकेला महसूस करने लगती है और अपने जीवन में उदासीन हो जाती है। ऐसी महिलाओं के लिए आसपास के लोग भी फिकरमंद हो होते हैं और तरह तरह के नुस्खे भी बताते रहते हैं "सुना है तालिया को बाल-बच्चा नहीं होगा? बहन, क्यों न तुम तालिया को लेकर अजमेर चली जाओ, वहाँ तो बड़ी-से-बड़ी बाँझन की मुराद पूरी हो जाती है।"[38] परन्तु वहीं जब आस-पास के लोग इस बात को अधिक तुल देने लगते हैं तब पीड़ा और अधिक बढ़ जाती है। कोई भी स्त्री अपने आप को बाँझ नहीं सुन सकती। स्त्रियों के लिए इससे बड़ी सजा और क्या हो सकती है जब कोई उसे बाँझ शब्द से संबोधन करे। तालिया के बाँझ होने की खबर आग की तरह फ़ैल गयी थी

जिसके कारण मौका-बेमौका उसे उसकी बांझपन की याद दिलाकर उसे गहरे अवसाद में जाने को मजबूर कर देते हैं। तालिया अपनी दोस्त जमीला से अपनी इस पीड़ा को कहती है "सोच रही हूँ जमीला, मेरे चमन में आग लगी है, इसकी खबर दुनिया को कैसे लगी?... दिल छोटा न करो तालिया, चार औरतों में उठो-बैठों तो खबर सुनने को मिल ही जाती है।"[39]

मेहरुन्निसा परवेज़ ने नारी की हर एक स्थिति को गहरे में जाकर पड़ताल करने की कोशिश की है। वे स्वयं एक नारी है। वह अपनी सहजानुभूति के कारण स्त्रियों की उस पीड़ा को समझ पाती है जिसे समझ पाने में पुरुष पूरी तरह से सक्षम नहीं है। पुरुष सहानुभूति की स्थिति में मौजूद हो सकता है परन्तु जब एक स्त्री, स्त्री की दशा को कहती है तब वह सहजानुभूति की स्थिति में होती है। मेहरुन्निसा परवेज़ तालिया के जिस दुःख को कहती है दरअसल वह दुःख लेखिका के स्वयं का है। अपनी शादी के दस साल बाद तक भी वह जब माँ नहीं बन पाती है तब लोगों के ताने सुनने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में एक स्त्री की स्थिति क्या होती है इसका एहसास एक मातृत्व विहीन औरत ज्यादा अच्छे से बता सकती है। तालिया अपने इसी अधूरेपन और लोगों के ताने को सुन सुन कर परेशान हो जाती है जिसके कारण अंततः उसे आत्महत्या करने की कोशिश करनी पड़ती है।

लेखिका ने मुस्लिम समाज की पढ़ी-लिखी लड़कियों की दयनीय स्थिति को उजागर करने की कोशिश की है। पढ़ी-लिखी होने के बावजूद भी इन लड़कियों को परिवार के बंदिशों एवं रूढ़ नियमों में बंधकर रहना पड़ता है। वह इस बंधन से मुक्त होने को छटपटाती रहती है जिसका चित्रण उपन्यास में शशि के इन वक्तव्यों में देखने को मिलता है। "तुम नहीं समझोगी, तालिया, हम इतना पढ़-लिखकर भी चौदहवीं सदी में जी रहे हैं। खानदान के लिए, माँ-बाप के लिए आज भी हमें अपनी आहुति देनी होती है। तुम्हीं बताओं, हम कहाँ बढ़े हैं? हमने कहाँ तरक्की की है? आज भी हम पुराने बंधनों में नहीं बंधे हैं?"[40] शशि और तालिया दोनों शिक्षित आधुनिक नारी है। दोनों अपने फैसले लेने में सामर्थ्य है। शशि आत्मनिर्भर भी है फिर भी

सामाजिक संरचना के जाल में वह फंसी रहती है। जिसे चाहती है उसे पा नहीं सकती और जिसे नहीं चाहती है उसी के साथ शादी करनी पड़ती है। जमीला भी जमशेद से प्यार करती है परन्तु उसे पा नहीं सकती। घरेलू जिम्मेदारियां उससे उसका प्यार छीन लेती हैं। जमीला अंत में तालिया के लिए उसके पति के साथ संबंध स्थापित करती है जिससे तालिया और शमीम खुश रह सके। शशि भी अपने प्रेम को खो देती है। लेखिका ने यहाँ हिन्दुस्तान की लड़कियों की बेबसी का चित्र आँका है। "तालिया हम हिन्दुस्तानी लड़कियाँ कितनी बदनसीब होती है! हर लड़की मोहब्बत का पेड़ लगाती है, पर उसमें फूल लगनेवाले ही होते हैं कि वह ठीक दूसरे से बाँध दी जाती है। ठीक अवसर पर उसे उन्हीं फूलों की माला पहनाई जाती है। कितने बेरहम हैं ये लोग!"[41] वास्तव में लड़कियों को अपार दुखों को सहना पड़ता है। वह एक पेड़ की तरह होती है जिसे एक जगह से दूसरी जगह लगाने पर वह अमूमन सुख जाता है या फिर नई जगह में लगने में काफी समय लगता है। यदि समय-समय पर पानी न मिले तो हो सकता है वह अच्छे से न लग पाए।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आजादी के बाद के उपन्यासों में रचनाकारों का भोगा हुआ यथार्थ नज़र आता है। इन उपन्यासकारों के उपन्यासों में विभाजन के बाद हुए साम्प्रदायिक बलवे, विभाजन की त्रासदी और स्त्रियों की दयनीय स्थिति को यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया गया है। मुस्लिम समाज के सम्पूर्ण परिवेश का ऐसा चित्रण इनके पूर्व किसी उपन्यासकारों ने नहीं किया था। आजादी के बाद लोगों का मोह भंग हुआ था जिसमें मुख्य रूप से मुसलमानों को दोहरा मार झेलना पड़ा था। उन्हें वतनपरस्ती के कठिन सवालों से आज भी गुजरना पड़ता है। ये समाज आज भी हाशियाकृत है जिस पर इन मुस्लिम रचनाकारों ने खुलकर बात की है एवं उन तमाम मिथकों को तोड़ने की कोशिश की है जो मुस्लिम समाज को भारत में हाशिये पर धकेल कर रखा है।

संदर्भ सूची:

1. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ-16
2. वही, पृष्ठ-21
3. वही, पृष्ठ-23
4. अशोक पाण्डेय, तारीख़ में औरत, पृष्ठ-7
5. वही, पृष्ठ-15
6. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-418
7. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ-33
8. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-17
9. वही, पृष्ठ-119
10. वही, पृष्ठ-109
11. वही, पृष्ठ-109
12. वही, पृष्ठ-110
13. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ-34
14. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृष्ठ-157
15. वही, पृष्ठ-158
16. वही, पृष्ठ-102
17. वही, पृष्ठ-185
18. वही, पृष्ठ-66
19. वही, पृष्ठ-296
20. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-9
21. बदीउज़्ज़माँ, सभापर्व, पृष्ठ-137

22. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-174

23. वही, पृष्ठ-122

24. कृष्ण दत्त पालीवाल, नारी विमर्श की भारतीय परंपरा, पृष्ठ-29

25. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृष्ठ-124

26. वही, पृष्ठ-123

27. शानी, काला जल, पृष्ठ- 5

28. वही, पृष्ठ-6

29. वही, पृष्ठ-89

30. वही, पृष्ठ-105

31. वही, पृष्ठ-127

32. वही, पृष्ठ-121

33. वही, पृष्ठ-92

34. वही, पृष्ठ-150

35. वही, पृष्ठ-285

36. इब्राहीम शरीफ़, अँधेरे के साथ, पृष्ठ-101

37. कृष्ण दत्त पालीवाल, नारी विमर्श की भारतीय परम्परा, पृष्ठ-18

38. मेहरुन्निसा परवेज़, आँखों की दहलीज, पृष्ठ-23

39. वही, पृष्ठ-24

40. वही, पृष्ठ-64

41. वही, पृष्ठ-82